वार्षिक रु. ५०/-
मूल्य रु.६.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ४४ अंक ९ सितम्बर २००६ मूल्य रु. ६
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

मंगल कामना

सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया: ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुख:भाग्भवेत् ।।

सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दु:ख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

सितम्बर २००६

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४४
अंक ९

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

प्रिंट आर्डर - १२,७५०

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

सौर ऊर्जा

वैराग्य-शतकम्

एतस्माद्विरमेन्द्रियार्थ-गहनादायासकादाश्रय
श्रेयोमार्गमशेषदुःख-शमनव्यापारदक्षं क्षणात् ।
स्वात्मीभावमुपैहि संत्यज निजां कल्लोललोलां गतिं
मा भूयो भज भङ्गुरां भवरतिं चेतः प्रसीदाधुना ।।६३।।

अन्वय – चेतः एतस्मात् आयासकात् इन्द्रिय-अर्थ-गहनात् विरम, क्षणात् अशेष-दुःख-शमन-व्यापार-दक्षं श्रेयः-मार्गम् आश्रय, निजां कल्लोल-लोलां गतिं संत्यज, स्वात्मी-भावं उपैहि, भूयः भङ्गुरां भव-रतिं मा भज, अधुना प्रसीद ।

अर्थ – हे मेरे चित्त, सर्व दुःखों के मूल कारण इस विषय-भोगों के गहन वन से विरत होओ और क्षण भर में ही सारे कष्टों को दूर करनेवाले श्रेयस् अर्थात् मोक्ष-मार्ग का आश्रय ले; अपनी जलतरंग के समान चंचल आचरणों को त्यागकर आत्म-भाव में स्थित हो जा; शान्त तथा प्रसन्न हो जा और फिर कभी इस क्षणभंगुर संसार में आसक्त न होना ।

मोहं मार्जय तामुपार्जय रतिं चन्द्रार्धचूडामणौ
चेतः स्वर्गतरंगिणीतटभुवामासङ्गमङ्गीकुरु ।
को वा वीचिषु बुद्बुदेषु च तडिल्लेखासु च श्रीषु च
ज्वालाग्रेषु च पन्नगेषु च सुहृद्वर्गेषु च प्रत्ययः ।।६४।।

अन्वय – चेतः, मोहं मार्जय चन्द्र-अर्ध-चूड़ा-मणौ तां रतिम् उपार्जय स्वर्ग-तरंगिणी-तट-भुवाम् आसङ्गम् अङ्गीकुरु; वीचिषु बुद्बुदेषु च तडित्-लेखासु च श्रीषु च ज्वाला-अग्रेषु च पन्नगेषु च सुहृत्-वर्गेषु च प्रत्ययः कः ?

अर्थ – हे मन, संसार के मोह का त्याग कर; अर्धचन्द्र को मस्तक पर धारण करनेवाले शिव से प्रीति कर; सुरसरि गंगा के तट पर निवास करने की आसक्ति को स्वीकार कर; क्योंकि जल के तरंगों, बुद्बुदों, बिजली की चमक, धन-सम्पदा, अग्नि की लपटों, सर्पों तथा सगे-सम्बन्धियों का क्या भरोसा !

– भर्तृहरि

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(राग-केदार - ताल-कहरवा)

जग के मोह जाल से, जो तुझे हो छूटना,
रामकृष्ण रामकृष्ण रामकृष्ण जप मना ।।

काम-क्रोध-लोभ का अति प्रबल प्रभाव है,
विषय-भोग में सहज ही चित्त का प्रवाह है;
द्रुत निवार कीर्ति-कांचनादि सर्व वासना ।।

सर्वदा सुसंग रखकर स्वधर्म कर्म सब,
जान तब ही आपदा नाम विस्मरण हो जब,
जो तू चाहे रोग-शोक-भय हृदय के नाशना ।।

साधु सज्जनादि का शान्तिमय सुधाम है,
अति सुलभ परम मधुर यह पुनीत नाम है,
है परम सुहृद स्वधन इसे कभी न भूलना ।।

– २ –

(पहाड़ी–कहरवा)

करो मन परमहंस का ध्यान।
परमब्रह्म साकार सगुण हो,
नरकाया परिधान ।।

जगस्त्रष्टा पालक संहारी,
कृपासिन्धु चिन्मय वपुधारी,
करुणामय भगवान ।। करो मन ...

बार बार जो जग में आते,
नव सन्देश धर्म का लाते,
करते जन-कल्याण ।। करो मन ...

नित्य निरंजन भवभय भंजन,
साधु सुजन शरणागत रंजन,
सौंपो जीवन प्राण ।। करो मन ...

सुन्दर सुखद रूप अति भाए,
प्रणत जनों को देने आए,
अभय और वरदान ।। करो मन ...

– *विदेह*

भारतीय समाज का वैशिष्ट्य

स्वामी विवेकानन्द

अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित State Society and Socialism नामक संकलन में प्रश्नोत्तर के रूप में स्वामीजी के विचारों का संयोजन किया गया है। प्रस्तुत है उसी पुस्तक के महत्वपूर्ण अंशों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

प्रश्न – भारतीय समाज के बारे में आपका क्या कहना है?

उत्तर – सदियों तक प्रगति-पथ पर अग्रसर होने के बाद हमें एक ऐसी मानव-गोष्ठी मिलती है, जो उत्तर में हिमालय के शीत तथा दक्षिण के ताप से परिवेष्टित है और जिसके मध्य विशाल मैदान तथा अनन्त वन हैं, जिनमें उत्ताल लहरों के साथ विराट् सरिताएँ बहती हैं। यहाँ हमें विभिन्न जातियों – द्रविड़, तातार और आदिवासियों की झलक मिल जाती है, जिन्होंने इसके रक्त, भाषा, रीति-रिवाज तथा धर्मों में अपने-अपने हिस्से का योगदान दिया। अन्त में हमारे सम्मुख एक महान् राष्ट्र का आविर्भाव होता है, जिसने अपने आर्य वैशिष्ट्य को अब तक सुरक्षित रखा है, जो आत्मसातीकरण के द्वारा अधिकतर शक्तिशाली, व्यापक तथा सुसंगठित हो गया है। यहाँ हम देखते हैं कि केन्द्रीय आत्मसात्कारी प्रमुख अंश ने अपना रूप और चरित्र पूरे समुदाय को प्रदान किया है और साथ ही वह बड़े गर्व के साथ अपने 'आर्य' नाम से चिपका रहा और किसी भी दशा में अन्य जातियों को अपने आर्य वर्ग के अन्तर्गत सम्मिलित करने को प्रस्तुत नहीं था, यद्यपि वह उन जातियों को अपनी सभ्यता से लाभान्वित करने को तैयार था।

भारतीय जलवायु ने इस जाति की प्रतिभा को एक और उच्चतर दिशा प्रदान की। इस भूमि पर, जहाँ प्रकृति अनुकूल थी तथा जहाँ प्रकृति पर विजय पाना सरल था, राष्ट्र-मानस ने चिन्तन के क्षेत्र में जीवन की महत्तर समस्याओं से उलझना तथा उन्हें जीतना शुरू किया। स्वभावत: भारतीय समाज में विचारक, पुरोहित सर्वोत्तम वर्ग के हो गये, न कि तलवार चलाने वाले क्षत्रिय।[१६]

संक्षेप में कहें तो, पुत्र द्वारा सदा ही पिता के व्यवसाय को अपनाने के इस जाति-प्रथा का विकास हुआ। समय पाकर इस प्रकार समाज, अनेक वर्गों में विभाजित हो गया और हर वर्ग अपनी सीमाओं में कठोरता से जकड़कर रह गया। पर जहाँ इससे जनता में विभाजन हुआ, वहीं इसने जनता को मिलाया भी, क्योंकि एक जाति के सभी सदस्य जरूरत के समय अपनी जातिवालों की सहायता करने को बाध्य थे। और चूँकि कोई व्यक्ति अपनी जाति से बाहर नहीं जा सकता, हिन्दुओं में व्यक्तिगत या सामाजिक वर्चस्व प्राप्त करने के निमित्त उस प्रकार के संघर्ष नहीं होते, जिनसे अन्य देशों के लोगों में इतनी कटुता उत्पन्न होती रहती है।

जाति का सबसे बुरा पक्ष यह है कि वह प्रतियोगिता को दबाती है और वास्तव में प्रतियोगिता का अभाव ही भारत की राजनीतिक अवनति और विदेशी जातियों द्वारा उसके पराभूत होते रहने का कारण सिद्ध हुआ है।[१७]

अति प्राचीन काल से सारी भूमि राष्ट्र या राजा की समझी जाती है। भूमि पर व्यक्ति-विशेष का कोई अधिकार नहीं होता। भारत में सारा राजस्व भूमि के लगान से ही आता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति सरकार से ही भूमि पाता है। यह भूमि पाँच, दस, बीस या सौ परिवारों की साझा सम्पत्ति के रूप में रहती है। वे ही भूमि की सारी व्यवस्था करते हैं, सरकार को माल-गुजारी देते हैं, बीमारों की चिकित्सा के लिये एक वैद्य और बालक-बालिकाओं की शिक्षा के लिये एक शिक्षक का प्रबन्ध करते हैं। आदि आदि।[१८]

अनादि काल से उर्वरता और वाणिज्य-शिल्प में, भारत की तरह क्या कोई और देश है? दुनिया में जो भी सूती कपड़े, रूई, जूट, नील, लाख, चावल, हीरे, मोती आदि का व्यापार १०० वर्ष पहले तक था, वह पूरा भारत से जाया करता था, इसके अलावा नफीस रेशमी पश्मीना, कमखाब आदि इस देश की तरह कहीं भी नहीं होता था। फिर लौंग, इलायची, कालीमिर्च, जायफल, जावित्री आदि नाना प्रकार के मसालों का स्थान भी भारत ही है। इसीलिये बहुत प्राचीन काल से ही जो देश जब सभ्य होता था, उसे इन सब वस्तुओं के लिये भारत के ही भरोसे रहना पड़ता था। यह वाणिज्य दो प्रधान भागों से होता था – एक स्थल मार्ग से – अफगानी, ईरानी देश होकर और दूसरा पानी के रास्ते – लालसागर होकर। सिकन्दर ने ईरान विजय के बाद, अपने नियार्कुस नामक सेनापति को लालसागर होकर समुद्र पार सिन्धु नद के मुख से गुजरनेवाले जल मार्ग की खोज करने को भेजा था। बेबीलोन, ईरान, यूनान, रोम आदि प्राचीन देशों का ऐश्वर्य कहाँ तक भारत के वाणिज्य पर टिका हुआ था, यह बहुत-से लोग नहीं जानते।[१९]

कृष्ण ने जातिभेद तथा लिंगभेद को ठुकराकर आत्मज्ञान और आत्म-साक्षात्कार का द्वार सबके लिये समान रूप से खोल तो दिया, पर उन्होंने इस समस्या को सामाजिक स्तर पर ज्यों-का-त्यों बना रहने दिया। पुन: यह समस्या आज तक चली आ रही है। वैसे बौद्धों तथा वैष्णवों ने सामाजिक समानता सर्वसुलभ बनाने के लिये महान् संघर्ष किये।

आधुनिक भारत सभी मनुष्यों की आध्यात्मिक समता को स्वीकार तो करता है, लेकिन सामाजिक भेद को उसने कठोरतापूर्वक बनाये रखा है।

इस तरह ईसा-पूर्व सातवीं शताब्दी में हम देखते हैं कि हर एक क्षेत्र में पुन: नये सिरे से संघर्ष छेड़ा गया और अन्त में ईसा-पूर्व छठवीं शती में शाक्य मुनि बुद्ध के नेतृत्व में इस संघर्ष ने परम्परागत व्यवस्था को पराभूत कर दिया।

आगे चल कर परिस्थिति के अनुकूल बनने की अपनी तीव्र प्रवृत्ति के कारण भारतीय बौद्ध धर्म ने अपनी सारी विशेषता खो दी और जनधर्म बनने की अपनी तीव्र अभिलाषा के कारण कुछ ही सदियों में, मूल धर्म की बौद्धिक शक्तियों की तुलना में पंगु हो गया।

इसके बाद अन्धकारपूर्ण यवनिका और उसकी सदा परिवर्तिनी छायाओं का सूत्रपात हुआ – युद्ध के कोलाहल की, जनहत्या के ताण्डव की परिपाटी। तत्पश्चात् एक नयी पृष्ठभूमि पर एक दूसरे दृश्य का आविर्भाव होता है।

इसका कार्य-भार गुरुत्वपूर्ण था, इसकी समस्याएँ पूर्वजों के सम्मुख आयी किन्हीं भी समस्याओं की तुलना में कहीं अधिक व्यापक थीं। एक ही रक्त तथा भाषावली, समान सामाजिक तथा धार्मिक महत्त्वाकांक्षाओं वाली, अपेक्षाकृत छोटी एवं सुगठित यह जाति, जो अपने ऐक्य-रक्षार्थ अपने चारों ओर एक अनुल्लंघनीय दीवार खड़ी करती रही थी, अब बौद्ध धर्म के प्रभुत्व-काल में मिश्रित तथा बहुगुणित होकर एक विशाल जाति बन गयी थी। यह अपनी विभिन्न उपजातियों, वर्णों, भाषाओं, आध्यात्मिक प्रवृत्तियों तथा महत्त्वाकांक्षाओं के कारण अनेक विरोधी दलों में विभक्त हो गयी। इन सबको एक विशाल राष्ट्र में सुसंगठित एवं सुयोजित करना था।

उत्तर में कुमारिल और दक्षिण में शंकर तथा रामानुज द्वारा एक अल्पान्तरिक क्रम में संचालित प्रतिक्रियावादी आन्दोलन ने विभिन्न सम्प्रदायों तथा मतों की महान् राशि बनकर हिन्दू धर्म में ही एक अन्तिम रूप ले लिया है। पिछले हजार या अधिक वर्षों से उसका प्रधान लक्ष्य आत्मसात् करना रहा है और बीच-बीच में यदा-कदा सुधारों का विस्फोट होता रहा है। ... शंकर का आन्दोलन उच्च बौद्धिक मार्ग से आगे बढ़ा, पर जन-समाज को इससे कोई लाभ नहीं पहुँचा, क्योंकि इसने जाति-पाँति के जटिल नियमों का अक्षरश: पालन किया, जनता की सामान्य भावनाओं को बहुत कम स्थान दिया और केवल संस्कृत को ही विचार के आदान-प्रदान का माध्यम बनाया। उधर रामानुज एक अत्यन्त व्यावहारिक दर्शन लेकर आये। उन्होंने भावनाओं को अधिक प्रश्रय दिया, आध्यात्मिक साक्षात्कार के पहले जन्मसिद्ध अधिकारों को निषिद्ध किया और सामान्य भाषा में उपदेश दिया। फलत: जनता को वैदिक धर्म की ओर प्रवृत्त करने में उन्हें पूरी सफलता मिली।

मुसलमानी काल में उत्तर भारत के आन्दोलनों की यही प्रवृत्ति रही कि जन-साधारण विजेताओं के धर्म को अंगीकार न कर सके। इसके फलस्वरूप सबके लिये सामाजिक तथा आध्यात्मिक समानता का सूत्रपात हुआ।

रामानन्द, कबीर, दादू, चैतन्य या नानक आदि के द्वारा संस्थापित सम्प्रदायों के सभी सन्त मानव मात्र की समानता के प्रचार के लिये एकमत थे, यद्यपि उनके दार्शनिक दृष्टिकोणों में भिन्नता अवश्य थी।

तब एक बार पुन: अस्त-व्यस्तता का युग आया। मित्र-शत्रु, मुगल साम्राज्य तथा उसके विध्वंसक और तब तक शान्तिप्रिय रहनेवाले फ्रांसीसी तथा अंग्रेज विदेशी व्यापारी इस आपसी लड़ाई में जुट गये। पचास वर्षों से भी अधिक समय तक लड़ाई, लूटमार, मारकाट आदि के अतिरिक्त और कुछ नहीं हुआ। और जब, धूल और धुआँ दूर हुआ, तो इंग्लैंड शेष सब पर विजयी के रूप में प्रकट हुआ।[२०]

भारत पर इंग्लैंड की विजय – जैसा हम लोग बचपन में सुना करते थे, ईसा मसीह या बाइबिल की विजय नहीं है, और न पठान-मुगल आदि बादशाहों की विजय की भाँति ही है। ईसा मसीह, बाइबिल, राजप्रसाद, अनेक प्रकार से सजी-सजायी बड़ी-बड़ी सेनाओं का स्वर्ग कूच तथा सिंहासन का विशेष आडम्बर आदि जो दिखता है – इन सबके पीछे असली इंग्लैंड विद्यमान है। उस इंग्लैंड की ध्वजाएँ कारखानों की चिमनियाँ हैं, उसकी सेना व्यापारी जहाज हैं, उसका लड़ाई का मैदान संसार का बाजार है और उसकी रानी स्वयं स्वर्णांगी लक्ष्मी है। इसीलिये ऊपर कहा है कि भारतवर्ष पर इंग्लैंड का अधिकार एक बड़ी ही अभूतपूर्व घटना है।[२१]

सन्दर्भ-सूची –

१६. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड १०, पृ. ११८; **१७**. वही, खण्ड १, पृ. २७४; **१८**. वही, खण्ड १, पृ. ३२०; **१९**. वही, खण्ड ८, पृ. १८८-८९; **२०**. वही, खण्ड १०, पृ. ११९-१२४; **२१**. वही, खण्ड ९, पृ. २०९-१०

❖ **(क्रमशः)** ❖

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (९/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

लोचन चातक जिन्ह राखे करि
रहहिं दरस जलधर अभिलाषे ।।
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी ।
रूप बिंदु जल होहिं सुखारी ।।
तिन्हके हृदय सदन सुखदायक ।
बसहु बन्धु सह सिय रघुनायक ।। २/१२८/६-८

– "जिन्होंने अपने नेत्रों को चातक बना रखा है, जो सदा आपके दर्शन रूपी मेघों के लिये आकुल रहते हैं और जो विशाल नदियों, समुद्रों तथा सरोवरों का अनादर करते हुए आपके रूप-सौन्दर्य की एक बूँद से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, हे रघुनायक, आप उनके सुखदायी हृदय रूपी भवनों में बन्धु लक्ष्मण तथा जानकीजी के साथ निवास करें।"

कथा के प्रारम्भ में, कुछ शब्दों में मैं स्वामी विवेकानन्द के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदन करना चाहूँगा, क्योंकि यह परम्परा है कि जब कोई विशिष्ट अवसर है, तो उस अवसर की पवित्रता की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए। भारतीय हिन्दू तिथि के अनुसार आज स्वामी विवेकानन्द जी महाराज का जन्मदिन है। रायपुर का यह उत्सव, जो इतने दिनों तक चल रहा है, यह भगवान श्रीरामकृष्णदेव और स्वामी विवेकानन्द जी की स्मृति से जुड़ा हुआ है।

एक बार किसी ने मुझसे पूछा – रामराज्य बन सकता है या नहीं? मैंने कहा – इसका उत्तर – हाँ और नहीं – दोनों में दिया जा सकता है। रामराज्य ही राम-चरित-मानस की सर्वश्रेष्ठ परिणति है और उसका स्मरण आज भी किया जाता है। रामराज्य की स्थापना की कामना होनी तो स्वाभाविक है। पर रामराज्य की स्थापना हो सकती है या नहीं? उसका उत्तर यही है कि भगवान के अनेक अवतार होते हैं, पर अन्य किसी अवतार के काल में ऐसे राज्य की स्थापना नहीं होती। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि एक अवतार छोटे हैं और दूसरे बड़े। भगवान बार-बार अवतरित होते हैं। भिन्न-भिन्न कालों में वे संसार के जीवों के कल्याण हेतु आते हैं और जिस काल में जिस बात की सर्वाधिक आवश्यकता होती है, वह सार्वकालिक और सार्वभौम होते हुए भी, उस काल के परम लक्ष्य को हमारे समक्ष रखते हैं। श्रीराम-अवतार में उनके आदर्श की सर्वश्रेष्ठ परिणति है – रामराज्य।

परन्तु प्रत्येक युग में रामराज्य इसलिए नहीं बन सकता कि इसकी स्थापना के लिए एक आवश्यक शर्त है। केवल श्रीराम के होने से ही नहीं, बल्कि यदि भरत भी होंगे तभी रामराज्य बनेगा। बड़ी अनोखी बात है। यदि आज भरत हो सकते हैं, तो रामराज्य भी बन सकता है। और यदि आज भरत सम्भव नहीं है, तो रामराज्य भी सम्भव नहीं है।

गोस्वामीजी से पूछा गया – कोई कहते हैं कि ये अवतार बड़े हैं, तो कोई किसी दूसरे अवतार को बड़ा बताता है और कोई तीसरा किसी अन्य अवतार को बड़ा सिद्ध करता है, तो इनमें तारतम्य क्या है? इस पर उन्होंने एक सूत्र दिया और वह सूत्र बड़े महत्त्व का है। उन्होंने दोहावली रामायण में कहा – भगवान स्वयं न तो छोटे होते हैं न बड़े, पूर्ण तो पूर्ण ही होता है, लेकिन उनका भक्त जैसा होगा, वह भगवान की महिमा को उतने ही रूप में प्रगट कर सकेगा –

लहै बड़ाई देवता इष्ट देव जथ होइ ।। दोहा ३२१

इसका अर्थ यह है कि अगर श्रीभरत न होते, तो राम-राज्य नहीं बन पाता। भगवान श्रीकृष्ण भी वही श्रीराम हैं, पर रामराज्य या कृष्णराज्य नहीं बना, क्योंकि द्वापर में भरत नहीं थे। जब भगवान अवतरित होते हैं, तो उनके पार्षद भी जन्म लेते हैं। और जन्म लेकर वे उस अवतार-कार्य को आगे बढ़ाने में, उसे पूर्ण करने में सहयोगी बनते हैं।

भगवान श्रीरामकृष्णदेव भगवान के अवतारों में एक हैं। श्रीमद्-भागवत में भले ही कुछ अवतारों का वर्णन किया गया है, पर यह भी स्वीकार किया गया है कि – **अवताराः हि असंख्येयाः** – भगवान के अवतार अनन्त हैं और उन अनन्त अवतारों में से जिसके प्रति हमारे अन्त:करण में श्रद्धा-भावना का संस्कार होता है, वे ही हमारे लिए कल्याणकारी बन जाते हैं। जब भगवान श्रीरामकृष्णदेव को अवतार-वरिष्ठ कहते हैं – **अवतार-वरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः** – तो इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर अनेकानेक रूपों में अवतरित होते हैं और उनकी भूमिकाएँ भिन्न-भिन्न रूपों में सामने आती हैं। श्रीरामकृष्णदेव स्वयं भगवान हैं, पर जैसे श्रीभरत या श्रीलक्ष्मण के द्वारा भगवान राम की महिमा प्रगट होती हैं, वैसे ही यदि स्वामी विवेकानन्दजी महाराज का जन्म न हुआ होता, तो भगवान श्रीरामकृष्ण को सुनने-समझने-देखने की

दृष्टि हमें न मिलती। और फिर वह साकार रूप – भगवान रामकृष्ण के नाम से जुड़े हुए रामकृष्ण मिशन नामक विश्वव्यापी संस्थान के द्वारा सम्पन्न होता है, उनकी महिमा और कार्य, जो मनुष्य के बहिरंग और अन्तरंग दोनों का समाधान देने का प्रयास करता है, यह स्वामी विवेकानन्दजी महाराज की ही दिव्यता का परिणाम है। भगवान श्रीरामकृष्णदेव के विषय में यदि हम और आप इतना जानते हैं, सुनते हैं, पढ़ते हैं तो इसका श्रेय स्वामीजी को ही जाता है। इसलिए भगवान रामकृष्णदेव के साथ स्वामी विवेकानन्दजी का होना तो अनिवार्य ही है और उनके बिना हम श्रीरामकृष्णदेव की महिमा को समझ नहीं सकते। जैसे हम भगवान श्रीराम के साथ श्रीभरत का गुणानुवाद करते हुए तृप्त नहीं होते, वैसे ही भगवान श्रीरामकृष्ण देव के साथ हम स्वामी विवेकानन्दजी का स्मरण करके धन्यता का अनुभव कर सकते हैं।

महर्षि वाल्मीकि भगवान श्रीराम के निवास हेतु जो चौदह स्थान बताते हैं, उनमें दूसरा स्थान उन्होंने उस भक्त का हृदय बताया, जिसने अपने नेत्रों को चातक बना लिया है। चातक पक्षी अनन्य भाव से स्वाति नक्षत्र के जल की कामना करता है, उसे छोड़कर वह और कुछ नहीं चाहता। जिस भक्त की ऐसी दृष्टि होती है, उसके हृदय में भगवान निवास करते हैं। भगवान के सौन्दर्य की महिमा तो अवश्य है, पर उसे देखने और समझने के लिए एक विशेष दृष्टि चाहिये।

गीतावली रामायण की वह पंक्ति मेरे ध्यान में आती है, जब एक सखी अन्य सखियों से कहती है – ''जरा राम को देखो तो!'' वे जिन सखियों से कहती हैं, उन सबके पास आँखें हैं और सभी श्रीराम को देख रही हैं। यदि ध्यान इधर-उधर हो, तब तो ऐसा कहना ठीक था, पर जब देखनेवाले की दृष्टि उधर ही है, तब भी ऐसा क्यों कहा? उस सखी ने बड़ा मधुर वाक्य कहा – तुम देख रही हो, मगर अपनी आँखों से देख रही हो। अपनी आँखों से देखकर भी तुम्हें रस और आनन्द की अनुभूति हो रही है, पर मुझे जो दिव्य आनन्द प्राप्त हो रहा है, उसे पाने के लिए मेरी आँखों से, मेरी दृष्टि से श्रीराम को देखो –

बिलोकहु री सखि मोहि सी ह्वै ।।

यह सूत्र बड़े महत्त्व का है। भक्तों की बड़ी महिमा गाई गयी है। हम भगवान के साथ भक्त का स्मरण इसलिये करते हैं कि भक्त हमें भगवान को देखने की दृष्टि प्रदान करते हैं।

गोस्वामीजी कहते हैं – चातक को मुक्ति नहीं चाहिए और भक्त भी मुक्ति की अभिलाषा नहीं रखता –

मुक्तिनिरादर भगति लुभाने। ७/११८/७

रूप गोस्वामी भगवान श्रीकृष्ण के अनन्य भक्तों में एक हैं। उनका एक बड़ा प्रसिद्ध श्लोक है, जिसमें अपनी शैली में वे एक बड़ी अनोखी बात कहते हैं। उनसे पूछा गया – ''पुरुषार्थ के चारों फलों में मुक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। तो आपके जीवन में जो इतना त्याग, इतना वैराग्य, इतनी तपस्या और इतनी साधना है, उसका उद्देश्य मुक्ति पाना ही तो होगा?'' उन्होंने कहा – ''नहीं, ऐसी बात नहीं है। निम्बौली (नीम का बीज) भी जब पक जाती है, तो उसमें मिठास आ जाती है, तब लोग उसका प्रयोग दवाई के लिए तो करते हैं, पर मिठास के लिए कोई नहीं करता। मुक्ति भी उस नीम के बीज की तरह है और जो मुक्ति चाहते हैं, वे उस निम्बौली से मुक्ति-सुख प्राप्त करे, मुझे कोई आपत्ति नहीं, पर मुझे उसकी आवश्यकता नहीं है, मुझे तो रस चाहिए। पूछा गया – ''आप कौन-सा रस चाहते हैं?'' तो बोले – श्यामामृतम् –

निर्वाण-निम्ब रसमेव रसानभिज्ञाः ।
चूस्यन्तु नामरतु तत्त्वविदो वयं तु ।।
श्यामामृतं मदनमन्थन गोपरामा ।
नेत्राञ्जली चुलुकिता वसिताप्यनामः ।।

श्यामामृतम् – श्यामसुन्दर के सौन्दर्य का अमृत मैं पीता हूँ। और इसे पीने की विधि भी समझ लो – यदि जल हो या दूध हो, तो सामान्यतया लोग उसे पीने के लिये किसी बर्तन में लेंगे और पीयेंगे। – तो इस श्यामामृत का पान करने की विधि क्या है? इसे पीने की बड़ी मधुर विधि उन्होंने बताई। उन्होंने भक्तों के नेत्र की तुलना चुल्लू से की। चुल्लू अर्थात् जब आप बर्तन के स्थान पर अपने हाथों को मुख से लगाकर जल लेते हैं, तो उसे चुल्लू से जल पीना कहते हैं। उन्होंने कहा – नेत्रों के चुल्लू से मैं श्यामामृत-रस पीता हूँ।

बड़ी विचित्र बात लगी। अरे भई, नेत्र को आप पात्र कह दीजिए, कोई नाम दे दीजिए, कह दीजिए कि नेत्र के गिलास से, प्याले से रस पीता हूँ। पर नहीं, नेत्र के चुल्लू से पीता हूँ। भक्तों के रस पीने की पद्धति ही अनोखी है। जब आप गिलास में जल लेते हैं, तो पहले उसे किसी बड़े बर्तन से गिलास में ढाल लेते हैं और तब पीते हैं।

पर चुल्लू से जल पीने की पद्धति अलग है। ऊपर से जल गिरता रहता है और चुल्लू को मुँह में लगाकर उस जल को पीया जाता है। हमारे दर्शन में अन्तराय, विघ्न या व्यवधान नहीं है। हम चाहते हैं कि यह श्यामामृत किसी पात्र में सिमट कर नहीं, अपितु सीधे धारा के रूप में हमारे मुँह में आये। – अच्छा, अगर आपके नेत्र चुल्लू हैं, और उससे आप पीते हैं, तो यह जल पिलानेवाला कौन है?

चुल्लू से जल पीते तो लोग दिखाई देते हैं, पर आपने ऐसा दृश्य तो नहीं देखा होगा कि कोई चुल्लू से जल पी रहा हो और उसके चुल्लू के नीचे कोई दूसरा हाथ लगा कर जल पीने लगे। उन्होंने कहा – जब गोपियाँ नेत्र की चुल्लू से श्यामसुन्दर की रूप सुधा का जल पीती हैं, तो उस चुल्लू से

जो जल टपकता है, उसको पीकर हम धन्य हो जाते हैं।

इसमें कविता है, काव्य है, रस है। गोपियाँ अपने नेत्र की चुल्लू से श्यामामृत का पान कर रही हैं। उस चुल्लू से जल के जो बूँद टपक रहे हैं, उनका रस रूप गोस्वामी और भक्तगण ले रहे हैं। – सीधे क्यों नहीं पी लेते, चूल्लू से क्यों पी रहे हैं? – क्योंकि हम अपनी आँखों से नहीं, गोपियों की आँखों से भगवान को देखना चाहते हैं। गोपियों को जो दृष्टि प्राप्त है, वह हमारे पास नहीं है, इसलिए वे जब श्यामसुन्दर के रूप-सुधा का पान करती हैं, तो उनकी दृष्टि में जो रस है, वह रस हमें और भी आनन्दित करता है।

भगवान को देखने के लिए भक्त की आँख चाहिए। और भक्तों की तो इतनी आँखें हैं कि आपको जैसी आँख चाहिए, वैसी मिलेगी। भगवान शंकर ने पार्वतीजी से कहा – पार्वती, तुम्हें मैं अपनी एक चोरी सुना रहा हूँ। – चोरी? बोले – हाँ, जब तुम सती के रूप में थी, तब मैंने तुमसे एक बात छिपा ली थी, पर आज बता रहा हूँ। – कौन-सी बात? – जब श्रीराम का जन्म हुआ, तो मैं उनके जन्मोत्सव में भाग लेने को अयोध्या गया था, पर मैंने तुम्हें बताया नहीं, छिपकर चला गया। – महाराज, उस समय छिपा लिया और आज बता रहे हैं? क्या कोई विशेष कृपा है? बोले – कोई विशेष कृपा की बात नहीं है। परन्तु, पार्वती, तुम्हारी बुद्धि बड़ी दृढ़ है, इसीलिए सुना रहा हूँ –

औरउ एक कहउँ निज चोरी ।
सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी ।। १/१९५/३

सन्त और ईश्वर की वाणी में सावधानी होती है। उन्होंने सीधे आलोचना नहीं की कि उस समय सती के रूप में क्यों नहीं सुनाया। पार्वती में क्या विशेषता है, यह बता दिया, जो सती के रूप में उनमें नहीं थी। वे सीधे नहीं कहते कि सती के रूप में तुम्हारी बुद्धि कुतर्कयुक्त थी, चंचल थी। उन्होंने इतना ही कहा – गिरिजा, तुम्हारी बुद्धि बड़ी सुदृढ़ है।

– ठीक है, तो महाराज, आप गये, आपने श्रीराम का दर्शन किया? उन्होंने कहा – मैं कैसे जाता? श्रीराम का जन्म हुआ था राजमहल में और वहाँ तो केवल स्त्रियाँ ही जा सकती थीं। – तो फिर जन्मोत्सव में जाने से लाभ क्या हुआ? अब जो बात शंकरजी कहते हैं, उसका आनन्द दूसरा है। उन्होंने कहा – मैंने तुमसे तो छिपा लिया और सुमेरु पर्वत पर भुशुण्डिजी के पास चला गया; फिर हम दोनों ने जाकर श्रीराम के जन्मोत्सव में भाग लिया।

शंकरजी गुरु और भुशुण्डिजी शिष्य – गये तो दोनों, पर भीतर नहीं गये। – क्यों? – भीतर जाने में कोई सार्थकता नहीं थी। पार्वतीजी – "जब आपने राम को नहीं देखा, तो आप किस उद्देश्य से वहाँ गये थे?" वे बोले – हम लोग अयोध्या की गलियों में बड़े आनन्दयुक्त होकर घूम रहे थे –

काकभुसुण्डि संग हम दोऊ ।
मनुज रूप जानइ नहिं कोऊ ।।
परमानंद प्रेम सुख फूले ।
बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले ।। १/१९५/४-५

– गये राम को देखने और गलियों में घूमने लगे? पर इसमें संकेत क्या था? – राम के दर्शन में आनन्द तो था, पर जो नगरवासिनी स्त्रियाँ भीतर जाकर दर्शन करके आ रही थीं, हम लोग तो उनकी आँखों को देख रहे थे कि उनकी दृष्टि में कितना रस आ गया है, कितना आनन्द आ गया है।

श्रीराम के दर्शन का आनन्द तो है ही, पर जिसने श्रीराम का दर्शन पाया है और पाने के बाद उसे जिस दिव्य आनन्द की अनुभूति हो रही है, उसमें क्या कम आनन्द है? भगवान शंकर भी जिस रूप-रस का पान कर रहे हैं, वह वही है, जो नगरवासिनी स्त्रियों की आँखों से छलक रहा है और वे कहते हैं कि उसके कारण हम लोग आनन्द में फूल गये।

भगवान को देखने के लिए दृष्टि की आवश्यकता है और वह दृष्टि जब तक व्यक्ति के पास नहीं है, तो चाहे भगवान कोटि-कन्दर्प-कमनीय, काम-सुन्दर बन कर आयें या किसी दूसरे वेश में, व्यक्ति उस रूप का न आनन्द ले सकता है और न उस रूप-रस का पान कर सकता है।

प्रह्लादजी को भगवान के नृसिंह रूप में रस की अनुभूति होती है। भगवान सिंह के रूप में भी तो हैं। यदि आपके सामने सिंह आकर खड़ा हो जाय, तो क्या आप उसको देखकर बड़े प्रसन्न होंगे कि भगवान का दर्शन हुआ? व्यक्ति तो घबराकर प्राण लेकर भागेगा, आतंक की सृष्टि होगी, पर प्रह्लाद को आनन्द की अनुभूति होती है, क्योंकि नृसिंह भगवान को पहचानने के लिए जो आँखें चाहिए, वे प्रह्लाद के पास हैं। हम और आप सिंह को देखकर भागते हैं, पर सिंह का जो छोटा-सा बच्चा है, क्या वह भी अपनी माँ को देखकर भागता है? क्या अपने पिता को देखकर भागता है? क्या उसकी आकृति बदल जाती है? उसकी आँखों में अपनी माँ के प्रति जो स्नेह है और माँ का बच्चे के प्रति जो वात्सल्य है, वही आनन्द की सृष्टि करता है।

इसलिए ईश्वर संसार के जीवों के समक्ष बारम्बार अनेक रूपों में आते हैं, परन्तु अनेक रूप में आने के बाद भी आँखें न होने से, चातक जैसी दृष्टि न होने से, हम भगवान को देख नहीं पाते, पहचान नहीं पाते। मान लीजिए किसी के पास आँखें हों, पर आँखों में कई बार कोई रोग हो जाता है। अधिक आयु में या कम अवस्था में भी मोतियाबिन्द हो जाता है और तब चीजें साफ-साफ नहीं दिखाई देतीं। फिर ऐसी भी स्थिति आती है कि आँखें तो रहती हैं, पर कुछ दिखाई नहीं देता। पर वही व्यक्ति यदि शल्य-क्रिया के द्वारा आँख के सामने आया हुआ परदा दूर करा लेता है, तो उसकी दृष्टि

सर्वथा बदल जाती है। अत: भगवान के दर्शन में भगवान का जितना महत्त्व है, उससे भी अधिक महत्त्व भक्त की दृष्टि का है। गोस्वामीजी इस महान् सत्य को रामायण के विविध प्रसंगों के माध्यम से एक ऐसे रूप में रखते हैं कि साधारण व्यक्ति उसे दूसरे अर्थ में पढ़कर आनन्दित होता है। पर यदि आप गहराई में जाएँगे, तो आपको और भी रस मिलेगा।

भगवान राम जनकपुरी में पधारे हुए हैं, धनुषयज्ञ के मण्डप में बैठे हुए हैं और देश-देशान्तर से अनगिनत राजा आए हुए हैं। वे आए हुए हैं, तो स्वाभाविक है, उन राजाओं में से अधिकांश ने उठकर धनुष तोड़ने का प्रयास किया। पर कुछ ऐसे राजा भी थे, जो बैठे रहे। उन्होंने तोड़ने की चेष्टा नहीं की। जिन्होने तोड़ने की चेष्टा की, वे सफल नहीं हुए। असफल होकर लौट आए। तब उन लोगों ने, जो राजा प्रयत्नशील नहीं थे, उठ नहीं रहे थे, उनको उत्साहित किया – "बैठे क्यों हो, तुम भी तो प्रयत्न करो।"

परन्तु इस प्रेरणा के पीछे कोई सद्भाव नहीं था। उन राजाओं को लग रहा था कि हम लोगों की दुर्दशा तो हो गई और ये जो बैठे हैं, बाद में कहेंगे कि हम चाहते तो तोड़ सकते थे, पर हमारी इच्छा ही नहीं हुई, इसलिए प्रयत्न ही नहीं किया। तो जरा इनको भी प्रेरित करें और ये भी हम असफल लोगों के दल में शामिल हो जायँ, तो अच्छा रहेगा। वे बोले – "सोचो, इतनी दूर से चलकर आए हो, तो क्या प्रयत्न नहीं करना चाहिए? इससे नाक नहीं कट गई?" इस पर उन लोगों ने उत्तर दिया – "आप लोगों ने तो प्रयत्न किया, आप लोगों की नाक बची या कट गई?" – "क्यों? क्या हमारी नाक दिखाई नहीं दे रही है?" तो गोस्वामीजी ने साहित्यिक व्यंग्य का प्रयोग किया।

शंकरजी के धनुष का नाम था – पिनाक। उन्होंने कहा – "तुम लोग गये थे पिनाक के पास, तो तुम्हारी नाक तो वहीं कट गई और उसे छोड़कर तुम वापस आ गये हो –

नाक पिनाकहि संग सिधाई। १/१६५/७

तुम लोगों की तो नाक कट गई है, अब हमारी भी नाक कटवाने के लिए व्यग्र हो? उन्होंने कहा – "प्रयत्न क्यों नहीं कर रहे हो?" वे बोले – "इसलिए कि जिस समय सीताजी को देख रहे थे, उस समय हमारी बात और थी, पर सीताजी के साथ श्रीराम पर हमारी दृष्टि पड़ गई और हमने दोनों को देख लिया, तो हमें ऐसा लगा कि अरे, हम तो बड़े सौभाग्य -शाली है, धनुष तोड़कर तो सीताजी प्राप्त होतीं और धनुष न तोड़ने पर श्रीसीता और श्रीराम रूप में माता और पिता दोनों का दर्शन हो रहा है। हम तो भाग्यशाली हैं। एक को पाने आए और बिना प्रयास ही दो को पा लिया। हमारी दृष्टि बदल गई। ऐसा नहीं लगता कि जीवन में हमने नहीं पाया।

उन्होंने कहा – हम लोग नहीं देख रहे हैं क्या? हम भी तो देख रहे हैं। तुमने सीताजी को देखा, श्रीराम को देखा, राजकुमार को देखा, हम भी देख रहे हैं। तो भले राजाओं ने कहा – "देखने के लिए तुम्हारे पास आँखें तो हों। उन्हें देखने के लिये जो आँखें चाहिए, वह तुम्हारे पास नहीं हैं।" और – "तुम्हारी आँखों में रोग हो गया है। यदि श्रीराम को देखना चाहते हो, तो पहले आँख की दवा करो, आँख का रोग दूर करो, तभी वे तुम्हें दिखाई देंगे।" – "कौन-सा रोग हो गया है हमारी आँखों में?" वे बोले – तुम्हारी आँखों में तो ये तीन चीजें भरी हैं – ईर्ष्या, मद और क्रोध –

देखहु रामहि नैन भरि
तजि इरिषा मदु कोहु ।। १/२६६

यदि कोई किसी पात्र में कुछ भरना चाहें और वह पहले से ही भरा हो, तो उसमें कैसे भरा जायेगा? पात्र में तो जगह ही नहीं है। तुम लोगों की आँखों में मद है। जैसे शराबी खुली आँखों से भी ठीक देख नहीं पाता, वैसे ही तुम लोग भी अपने राजमद से, अपने बाहुबल के मद से उन्मत्त हो। इसके साथ ही मोहग्रस्त भी हो अर्थात् तुम देखना-समझना नहीं चाहते। और तुम्हारे हृदय में, तुम्हारी आँखों में ईर्ष्या भरी हुई है। इसलिए श्रीराम तुम्हें दिखाई कैसे देंगे? तुम जब ईर्ष्या से, मोह-मद से मुक्त हो जाओगे, तब श्रीराम को देखकर तुम्हें दिव्य आनन्द की अनुभूति होगी।

साधना का उद्देश्य है, भगवान को बुलाना, भगवान का दर्शन करना। यदि भगवान का दर्शन क्षण भर में हो सकता है, तो इतने वर्षों तक जप क्यों करें, इतने वर्षों तक साधना क्यों करें? तो इतने वर्षों की साधना का अर्थ है आँखों का बदलाव, भगवान में कोई बदलाव नहीं होगा। साधना के द्वारा हमारी आँखों में आये हुए दोष मिट जाएँगे।

परशुरामजी ने सुना कि किसी राजकुमार ने शिवजी का धनुष तोड़ दिया है। उन्हें बड़ा क्रोध आया और वे हाथ में फरसा लिए हुए उस सभा में पधारते है, जहाँ धनुष टूटने के बाद श्रीराम के कण्ठ में जनक-नन्दिनी के द्वारा अर्पित जयमाल सुशोभित हो रहा है। परशुरामजी भी तो राम ही हैं। संयोग ऐसा है कि दोनों अवतार हैं और दोनों राम भी हैं।

एक बार खर-दूषण का प्रसंग सुनाया गया, तो किसी ने मुझसे कहा कि यह तो असम्भव-सी बात है कि राक्षस लोग लड़ते समय सामने राम को देखकर उन पर प्रहार कर रहे थे। मैंने कहा – वह असम्भव क्या है, वह तो नित्य दिखाई दे रहा है। **सारा संसार राम का रूप है, पर राम को देखकर भी लोग लड़कर मरे जा रहे हैं।** कैसे? यह खर-दूषण क्या हमारे आपके जीवन का और संसार का सत्य नहीं है? यह तो जीवन का सत्य है। राम ही तो राम पर प्रहार कर रहा है। भगवान ने खर, दूषण, त्रिसिरा को राम बना दिया, पर

उनमें दृष्टि का अभाव था। अत: उनके हृदय में राम के प्रति जो ईर्ष्या थी, द्वेष था, इस कारण से वे ईश्वर की समग्रता का आनन्द नहीं ले सके और आपस में लड़कर मर गये।

पर यहाँ दूसरी बात है। यहाँ परशुरामजी क्रोध में भरकर ही आए; जिसने धनुष तोड़ा है उसे दण्ड देने के लिए आए और उन्हें यह भी पता नहीं था कि धनुष तोड़ा किसने? पर गोस्वामीजी ने इसका समापन कितना सुन्दर किया। प्रारम्भ किया भगवान राम के सौन्दर्य से। गोस्वामीजी कहते हैं – सभी लोगों ने भगवान राम का दर्शन किया, धन्य हुए।

साहित्य की दृष्टि से भी गोस्वामीजी का ग्रन्थ अनोखा है। यहाँ पर उन्होंने इन विभिन्न प्रकार के भक्तों की आँखों से सारे पक्षियों को जोड़ दिया। धनुष टूट रहा है। सीताजी श्रीराम को देख रही हैं। उनको कैसा लग रहा है? गोस्वामीजी ने 'चातक' शब्द ही चुना – जैसे चातकी स्वाति नक्षत्र का जल पाकर धन्यता और तृप्ति का अनुभव करती है, उसी प्रकार श्रीसीताजी श्रीराम को देख रही हैं –

सीय सुखहि बरनिह केहि भाँती।
जनु चातकी पाइ जलुस्वाती ।। १/२६३/६

लक्ष्मणजी के पास कौन-सी दृष्टि थी? वे तो मानो चकोर बनकर चन्द्रमा के रूप में श्रीराम का दर्शन कर रहे हैं –

रामहि लखनु बिलोकत कैसे।
ससिहि चकोर किशोरकु जैसे ।। १/२६३/७

जो जनकपुर की स्त्रियाँ हैं, उनके लिए गोस्वामीजी कहते हैं – कोयल की भाँति आपस में बातें करती हैं –

कहहिं परस पर कोकिल बयनीं १/३१०/७

और वाटिका में चातक है, चकोर है, कोकिल है। मोर भी है और वह नाच रहा है –

चातक कोकिल कीर चकोरा।
कूजत बिहग नदत कल मोरा ।।१/२२७/६

दूल्हे के रूप में घोड़े पर बैठे हुए श्रीराम जब चलते हैं, तो घोड़ा नाचने लगता है। मानो कामदेव ही घोड़े के रूप में आ गया हो। पर घोड़े के रूप में भी उसकी दृष्टि घोड़ेवाली नहीं है। नाचता है तो लगता है मानो मयूर नाच रहा हो –

जनु बाजि वेषु बनाइ मनसिजु
राम हित अति सोहुई। १/३१६ (छं.)

मयूर, चातक, कोकिल, तोता, चकोर ..। और राम नाम के जो भक्त हैं, वे मानो तोते के समान हैं। शिव या अन्य नामों के जो उपासक हैं, वे तो पक्षी हैं –

तुम्ह पुनि राम राम दिन राती।
सादर जपहु अनँग आराती ।। १/१०७/७

फिर पूछा गया कि महाराज सारे पक्षियों ने इतना आनन्द लिया, लेकिन कुछ राजाओं को आनन्द क्यों नहीं आया? जब परशुरामजी का संवाद समाप्त हुआ, तो राजा भागे। उनके लिए पूछा गया – महाराज, ये चातक हैं या कोकिल, तोते हैं या चकोर, या मोर? गोस्वामीजी बोले – सारे पक्षी तो प्रकाश का आनन्द लेते हैं, पर उल्लू नहीं ले पाता –

कपटी भूप उलूक लुकाने ।। १/२५४/२

उल्लू की समस्या यह है कि सूर्य को देखने के लिये उसके पास आँखें नहीं होतीं। यदि वह सूर्य के प्रकाश को नहीं देख पाता, तो यह उसके नेत्रों का ही दोष है। तो उलूक -वृत्ति वाले राजा श्रीराम को नहीं देख सकते थे।

राजाओं ने ज्योंही सुना कि परशुरामजी आ रहे हैं, तो वे इतने अस्त-व्यस्त हो गये, इतने घबरा गये – न जाने अब क्या होगा? लोगों का ध्यान श्रीराम की ओर से हट गया, सीताजी की ओर से हट गया। सभी राजा एक-एक करके आते हैं और अपने पिता का नाम ले-लेकर परशुरामजी के चरणों में साष्टांग प्रणाम करते हैं।

पितु समेत कहि कहि निज नामा।
लगे करने सब दंड प्रणामा ।। १/२६९/२

प्राचीन काल में ऐसा नियम था कि प्रणाम करने के पहले अपना गोत्र, पिता का नाम बताकर अपना परिचय दिया जाता था। आजकल लोग ऐसा नहीं करते, झंझट लगता होगा। यह परम्परा आज भी होती तो बड़ा अच्छा होता। सारे देश में भ्रमण करते हुये हजारों लोगों से भेंट होती है और जिनसे मिलता हूँ, उनमें से कुछ ऐसे भी होते हैं, जो कभी एक या दो दिन आते हैं और आशा करते हैं कि वे जब भी, जहाँ भी मिलें, हम उन्हें पहचाने, क्योंकि उन्हें लगता है कि वे इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि मुझे याद रहना चाहिये। तो जब वे मुझसे पूछते हैं कि आपने मुझे पहचाना? तो मैं क्या कहूँ? कह दूँ – नहीं पहचाना, तो उन्हें बड़ी चोट लगेगी। – मुझे नहीं पहचाना ! अब संकोचवश उनके हृदय की भावना की रक्षा के लिये कह देता हूँ – हाँ, पहचान रहा हूँ। इससे वे प्रसन्न हो जाते हैं। यहाँ तक तो ठीक था, पर उसमें कुछ ऐसे विचित्र महानुभाव भी होते हैं, जिन्हें इतने से ही सन्तोष नहीं होता। कहते हैं – पहचानते हैं, तो मेरा नाम बताइये। मैं परेशानी में पड़ जाता हूँ। हमारे पास सबके नाम की कोई सूची तो है नहीं ! परन्तु प्राचीन काल में यह एक बड़ी अच्छी बात थी कि अपना नाम पहले बता दिया करते थे। आप प्रणाम करने जायँ और अपने नाम का परिचय पहले ही दे दें, तो सुविधा हो गई कि आपको पहचान लिया गया।

❖ (क्रमशः) ❖

ईर्ष्या की प्रवृत्ति

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर अनेक विचारोत्तेजनक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मनुष्य के अन्तःकरण में एक ऐसी भी प्रवृत्ति होती है, जिसके कारण वह दूसरों की सफलता देखकर अपने भीतर जलन का अनुभव करता है। इसे 'ईर्ष्या' कहकर पुकारा गया है। यह एक मानसिक रोग है, जो मनुष्य के मन को सन्तप्त करता रहता है। शरीर को सन्तप्त करनेवाला रोग तो उपचार से ठीक हो जाता है, पर ईर्ष्या का उपचार सहज नहीं है। शरीर में ताप पैदा करनेवाले रोग को रोगी अनुभव करता है और फलस्वरूप वह अपने को अस्वस्थ समझ उसके उपचार के लिए स्वयं चेष्टाशील होता है। पर ईर्ष्या ऐसा रोग है कि रोगी अपने को अस्वस्थ ही अनुभव नहीं करता, फलतः उसे दूर करने की चेष्टा का उसमें सर्वथा अभाव होता है। यही उस रोग को विकट बना देता है। रोग को दूर करने के लिये दो बातें आवश्यक होती हैं - एक तो यह अनुभव करना कि 'मैं रोगी हूँ' और दूसरी, उसे दूर करने के लिए चेष्टाशील होना। ईर्ष्या-रोग से ग्रसित व्यक्ति में इन दोनों बातों का अभाव होता है।

ईर्ष्यालु व्यक्ति जिसके प्रति ईर्ष्या करता है, उसके गुण भी उसे दुर्गुण प्रतीत होते हैं। उसकी अच्छाई भी उसे बुराई के रूप में भासित होती है। उसकी सफलता उसके लिए असहनीय हो जाती है। जहाँ लोग किसी व्यक्ति के गुण गाते हैं, वहाँ ईर्ष्यालु उसके भीतर कालिमा ढूँढ़ने की चेष्टा करता है। 'मानस' में गोस्वामी तुलसीदास जी ने सिंहिका को ईर्ष्या के रूप में संकेतित किया है। श्री हनुमान जब समुद्र-लंघन कर रहे हैं, तब सिंहिका दूसरी बाधा के रूप में उनके सामने आती है। उसका वर्णन करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं -

निसिचर एक सिंधु महुँ रहई।
करि माया नभु के खग गहई।।
जीव जंतु जे गगन उड़ाहीं।
जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं।।
गहइ छाहँ सक सो न उड़ाई।
एहि बिधि सदा गगनचर खाई।।
सोई छल हनूमान कहँ कीन्हा।
तासु कपटु कपि तुरतहि चीन्हा।।
ताहि मारि मारुतसुत बीरा।
बारिधि पार गयउ मतिधीरा।।

– सिंहिका, ऊपर उड़कर जानेवालों की छाया पकड़कर नीचे खींचती है और उनका भक्षण करती है। यह सांकेतिक भाषा है। जो भी ऊपर उड़ते हैं, जिनकी ख्याति होती है, जो लोगों की दृष्टि में वरेण्य होते हैं, ईर्ष्यालु व्यक्ति केवल उनमें छाया देखने की चेष्टा करता है, उनमें कालिमा ढूँढ़ता है और उस कालिमा को पकड़कर उन्हें नीचे गिराकर उन्हें खाने के सुख का अनुभव करता है। हनुमान जी को लगा कि उनकी गति रुक रही है। वे तो भक्तिस्वरूपा सीताजी की प्राप्ति के लिए अहंकार-समुद्र का लंघन कर रहे थे। उन्हें लगता है कि कोई उन्हें आगे बढ़ने से रोक रहा है। वे तो साधक हैं, अपने भीतर झाँकते हैं। उन्हें सिंहिका रूप ईर्ष्या-वृत्ति दिखाई पड़ती है। वे निर्भय हो उसे नष्ट कर देते हैं और इस प्रकार ईर्ष्या की बाधा को दूर करते हैं।

ईर्ष्या और द्वेष के बीच चोली-दामन का सम्बन्ध है। दोनों में थोड़ा अन्तर है। ईर्ष्यालु व्यक्ति स्वयं जलता है, पर द्वेषी खुद तो जलता ही है, साथ ही जिसके प्रति द्वेष करता है, उसे भी जलाता है। 'द्वेष' शब्द का अर्थ ही है – जो दोनों ओर जलाए।

ईर्ष्या की प्रकृति बड़ी विचित्र है। सामान्यतः किसी को दुखी देखकर हमें भी कष्ट का अनुभव होता है और किसी को सुखी देखकर हम भी प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। पर ईर्ष्यालु के साथ ठीक इसका विपरीत होता है। वह किसी को दुःख-कष्ट में पड़ा देखकर सुख का अनुभव करता है तथा किसी को सुखी देखकर दुःख की ज्वाला में जलता है।

यह ईर्ष्या की मात्रा हम भारतवासियों में अधिक है। स्वामी विवेकानन्द एक बार कह ही उठे थे – "ईर्ष्या हमारे दाससुलभ राष्ट्रीय चरित्र का धब्बा है। औरों का तो क्या कहना, स्वयं सर्वशक्तिमान ईश्वर भी इस ईर्ष्या के कारण हमारा कुछ भला नहीं कर सकते।"

ईर्ष्या को दूर करने के लिए पहले हमें यह समझना होगा कि यह एक प्राणघाती रोग है। दूसरा कदम यह होगा कि जिस व्यक्ति के प्रति हम ईर्ष्यालु हैं, उसके गुणों को बारम्बार अपने मन में बलपूर्वक उठाना होगा। तीसरा कदम यह होगा कि रोग की विभीषिका को समझकर हम उसके प्रति निर्मम हो जायँ। केवल इस प्रकार ही ईर्ष्या के परिणामों से बचा जा सकता है।

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। जनवरी २००४ से आरम्भ करके जून २००५ अंक तक और तदुपरान्त अप्रैल २००६ अंक से ये लगातार प्रकाशित हो रही हैं – सं.)

– ११५ –

भक्ति का बीज फलीभूत होता है

जिस भक्त में विष्णु का अंश रहता है, उसमें भक्ति का बीज नष्ट नहीं होता।

मैं एक ज्ञानी[१] के पंजे में फँस गया, उसने ग्यारह महीने तक वेदान्त सुनाया। परन्तु मेरी भक्ति का बीज बिल्कुल नष्ट नहीं कर सका ! घूम-फिरकर वही – 'माँ-माँ' ! जब मैं भजन गाता था, तब वह रोने लगता था। कहता – 'अरे, यह तूने क्या सुनाया !' देखो, इतना बड़ा ज्ञानी भी रोने लगता था ! समझ रखना, अलख लता का रस पेट में जाने से पेड़ होता ही है। भक्ति का बीज यदि पड़ गया, तो उससे क्रमश: पेड़ और फूल-फल होते ही हैं।

चाहे लाख ज्ञान-विचार करो, पर भीतर यदि भक्ति का बीज रहा, तो घूम-फिरकर वही – 'भज राम, भज सीताराम।'

– ११६ –

हनुमानजी को फल का लोभ दिखाना

देखो, हनुमान का भाव कैसा है ! धन, मान, शरीर-सुख कुछ भी नहीं चाहते, केवल भगवान को चाहते हैं। जब वे स्फटिक-स्तम्भ के भीतर से ब्रह्मास्त्र निकालकर भागे, तब मन्दोदरी नाना प्रकार के फल लाकर उन्हें लोभ दिखाने लगी। उसने सोचा कि शायद ये फल के लोभ से उतरकर ब्रह्मास्त्र फेंक दें; पर हनुमान भला इस भुलावे में कहाँ आने वाले थे ! वे गाने लगे –[२]

क्या मुझे फलों का अभाव है? जो फल मुझे मिला है, उसी से मेरा जन्म सफल हो गया है। मेरे हृदय में मोक्षफल के वृक्ष श्रीरामचन्द्रजी हैं। श्रीराम-कल्पतरु के नीचे बैठा रहता हूँ; जब जिस फल की इच्छा होती है, वही खाता हूँ। मुझे तेरे फल की जरूरत नहीं है। तू मुझे फल न दिखा, नहीं तो मैं इसका फल चखा जाऊँगा।

– ११७ –

एकाग्रता की शक्ति

एक आदमी अकेला एक तालाब के किनारे मछली मारने के लिए बैठा था। बड़ी देर के बाद बंसी का 'शोला' हिला, कभी-कभी वह पानी में कुछ डूब भी जाता था, तब वह बंसी को झट से खींचने की ताक में था।

इसी समय उधर से होकर गुजरते हुए किसी राहगीर ने उससे पूछा – "महाशय, क्या आप बतला सकेंगे कि अमुक व्यक्ति का घर कहाँ है?" कोई उत्तर नहीं मिला। यह आदमी उस समय बंसी खींचने की ताक में था। पथिक ने कई बार ऊँची आवाज में अपना प्रश्न दुहराया।

उधर उस आदमी को होश था ही नहीं, उसका हाथ काँप रहा था, निगाहें शोले पर लगी हुई थीं। कोई उत्तर न पाकर यात्री नाराज होकर पाँव पटकता हुआ वहाँ से चल दिया। राहगीर काफी दूर निकल गया।

इधर मछली पकड़नेवाले का शोला बिलकुल डूब गया और उसने झट से बंसी को खींचकर मछली को जमीन पर ला पटका। इसके बाद उसने अँगौछे से अपना मुँह पोंछा और पथिक को ऊँची आवाज देकर वापस बुलाया – "अजी, सुनो, सुनो।" पथिक लौटना नहीं चाहता था, मगर कई बार पुकारने पर वह आया और पूछने लगा – "क्यों महाशय, अब आप क्यों बुलाते हैं?" उसने पूछा – "तुम मुझसे क्या कह रहे थे?" पथिक ने कहा – "तब इतनी बार दुहराया और अब पूछते हो क्या कहा था?" उसने कहा – "उस समय शोला डूब रहा था, इसलिए मैंने कुछ सुना ही नहीं।"

गहरे ध्यान में ऐसी ही एकाग्रता होती है। उस समय अन्य कुछ भी नहीं दीख पड़ता, अन्य कुछ भी नहीं सुन पड़ता। कोई छू भी ले तो पता नहीं चलता। देह पर से होकर साँप चला जाता है, तो भी कुछ पता नहीं चल पाता। ध्यान करनेवाला और साँप – दोनों ही नहीं समझ पाते।

---

१. श्रीरामकृष्ण के महान् वेदान्ती गुरु स्वामी तोतापुरी

२. रामायण की एक कथा के अनुसार रावण को वरदान मिला हुआ था कि वह ब्रह्मास्त्र के अलावा अन्य किसी भी अस्त्र-शस्त्र के द्वारा नहीं मारा जा सकेगा। उस ब्रह्मास्त्र को उसके महल के एक स्फटिक-स्तम्भ में छिपाकर रख दिया गया था। एक दिन हनुमानजी एक साधारण बन्दर के वेश में उस महल में गये और उस स्फटिक के खम्भे को तोड़ डाला। जब वे उसमें से ब्रह्मास्त्र को उठाकर भागने लगे, तो रावण की पत्नी मन्दोदरी उन्हें फल दिखा-दिखाकर प्रलोभित करने लगी, ताकि वे भुलावे में आकर ब्रह्मास्त्र को वहीं छोड़ जायँ। परन्तु हनुमानजी अपने वास्तविक रूप में आ गये और यह गीत गाने लगे।

व्याकुलता

– ११८ –

सच्ची व्याकुलता से वे शीघ्र मिलते हैं

एक व्यक्ति की एक पुत्री थी। वह काफी कम आयु में ही विधवा हो गयी थी। पति का मुख उसने कभी न देखा था। वह देखती कि दूसरी स्त्रियों के पति आते-जाते रहते हैं। एक दिन वह बोली – "पिताजी, मेरा पति कहाँ है?" उसके पिता ने कहा – "बेटी, गोविन्दजी तेरे पति हैं। उन्हें पुकारने पर वे तुझे दर्शन देंगे।" यह सुनकर वह लड़की द्वार बन्द करके गोविन्द को पुकारती और रोया करती थी। वह कहती – "गोविन्द ! तुम आओ, मुझे दर्शन दो, तुम क्यों नहीं आते?" छोटी बालिका का रोना सुनकर गोविन्दजी स्थिर नहीं रह सके। उन्होंने प्रकट होकर उसे दर्शन दिए।

अनुराग – खूब व्याकुलता होने पर ईश्वर मिलते हैं।

– ११९ –

बालक जैसी व्याकुलता

व्याकुल हुए बिना उनका दर्शन नहीं पाया जा सकता। यह व्याकुलता भोग का अन्त हुए बिना नहीं होती। जो लोग कामिनी-कांचन के बीच में हैं, जिनके भोग का अन्त नहीं हुआ, उनमें ईश्वर के लिये व्याकुलता नहीं आती।

जब मैं कामारपुकुर में था, तब हृदय का चार-पाँच वर्ष का लड़का सारा दिन मेरे पास ही रहता था। खिलौने आदि लेकर इधर-उधर खेला करता था, एक तरह से सब कुछ भूला रहता था। पर ज्योंही संध्या होती, वह कहने लगता – "माँ के पास जाऊँगा।" मैं कितना ही कहता – "कबूतर दूँगा" और भी तरह-तरह से समझाता, परन्तु वह भूलता न था, रो-रोकर कहता – "माँ के पास जाऊँगा।" खेल, खिलौना – कुछ भी उसे अच्छा नहीं लगता था। मैं उसकी दशा देखकर स्वयं भी रोने लगता था।

इसी प्रकार बालक की भाँति ईश्वर के लिए रोना चाहिये ! यही है व्याकुलता ! फिर खेल, खाना-पीना कुछ भी अच्छा नहीं लगता। कामिनी-कांचन की भोग-वासना का अन्त हो जाने पर ही उनके लिये व्याकुलता और रोना होता है।

– १२० –

जहाँ चाह वहाँ राह

यदि कोई ईश्वर-प्राप्ति का सच्चा मार्ग नहीं जानता, मगर उसकी ईश्वर पर भक्ति है – उन्हें जानने की इच्छा है, तो वह अपनी भक्ति के बल पर ही ईश्वर को प्राप्त कर सकता है।

एक आदमी बड़ा भक्त था, वह पुरी जाकर जगन्नाथजी का दर्शन करने की इच्छा से निकला। वह पुरी का रास्ता नहीं जानता था। पूरब की ओर न जाकर वह पश्चिम की ओर चला गया। वह रास्ता भूल गया था, परन्तु व्याकुल होकर लोगों से पूछा करता था। लोगों ने बताया – "इधर से नहीं, उस मार्ग से जाओ।" इसी प्रकार चलता हुआ वह भक्त आखिरकार पुरी पहुँच ही गया और वहाँ उसने भगवान जगन्नाथजी के दर्शन भी किये।

अगर सच्ची कामना हो, तो राह न जानने पर भी कोई-न-कोई बतानेवाला मिल ही जाता है। पहले भूल हो सकती है, पर अन्त में सही रास्ता मिल ही जाता है।

– १२१ –

ईश्वर के लिये कैसी व्याकुलता हो

एक शिष्य ने अपने गुरु से पूछा – "महाराज, मुझे ईश्वर का दर्शन कैसे मिल सकता है?" गुरु बोले – "चलो, तुम्हें दिखाता हूँ कि कैसी व्याकुलता होने पर उन्हें प्राप्त किया जा सकता है।" इतना कहकर वे शिष्य को एक तालाब के किनारे ले गये। वहाँ उन्होंने उसे पानी में डुबाकर ऊपर से दबाये रखा। थोड़ी देर बाद उसे बाहर निकालकर उन्होंने पूछा – "कहो, तुम्हें कैसा लग रहा था?" शिष्य बोला – "मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो मेरे प्राण ही निकल जायेंगे। मैं एक बार सांस लेने के लिए छटपटा रहा था।"

गुरु ने कहा – "भगवान के लिए जब तुम्हारे प्राण इसी तरह व्याकुल होंगे, तो उनके दर्शन होंगे।"

उद्यम और समर्पण

– १२२ –

पुरुषकार और शरणागति

एक आदमी के दो बच्चे थे। वह अपने एक बच्चे को गोद में लिये और दूसरे बच्चे को अपना हाथ दिये हुए खेत की मेड़ पर से चला जा रहा था। चलते-चलते आसमान में एक चील को उड़ते देखकर, जो बच्चा पिता का हाथ पकड़कर चल रहा था, वह मारे खुशी के पिता का हाथ छोड़ ताली पीटते हुए – "पिताजी, वह देखो, कैसी चिड़िया है' – कहकर चिल्ला उठा। परन्तु हाथ छोड़ते ही वह ठोकर खाकर खेत में गिर पड़ा। और जो बच्चा पिता की गोद में था, वह भी खुश होकर तालियाँ बजा रहा था, पर वह नहीं गिरा, क्योंकि पिता ने उसे पकड़ रखा था।

इसमें से पहला बच्चा पुरुषकार का उदाहरण है और दूसरा बच्चा ईश्वर-निर्भरता का। उनकी कृपा होने पर भय की कोई बात नहीं रह जाती। वे यदि कृपा करके संशय दूर कर दें और दर्शन दें तो फिर कोई दु:ख नहीं रह जाता। परन्तु उन्हें पाने के लिए खूब व्याकुल होकर पुकारना चाहिए – साधना करनी चाहिए – तभी उनकी कृपा होती है।

नारदीय भक्ति-सूत्र (३)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों के जापान-दौरों के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा ।।२।।

अन्वयवयार्थ – **सा** – वह (भक्ति) है, **तु-अस्मिन्** – उन (ईश्वर) के प्रति **परम प्रेमरूपा** – परम प्रेम के स्वरूप की।

अर्थ – भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेम के स्वरूप वाली कही गई है।

भक्ति की परिभाषा क्या है? इस सूत्र में संक्षिप्ततम शब्दों में परिभाषा दी गई है कि भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेम के स्वरूप की होती है। इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अर्थ है। पहले तो कहा गया कि इसमें परम प्रेम हो। 'परम' विशेषण बहुत अन्तर पैदा कर देता है। यह साधारण प्रेम नहीं, अपितु परम प्रेम है। प्रेम की इस अवस्था का मूल भाव क्या है? यह इस अर्थ में परम है कि यह केवल मात्रात्मक रूप में ही नहीं, अपितु गुणात्मक रूप में भी परम है। यह प्रेम, बहुत तीव्र प्रेम या प्रगाढ़तम प्रेम मात्र नहीं है; इसकी गुणवत्ता भी साधारण प्रेम से भिन्न है। प्रेम की गुणवत्ता का वर्गीकरण कैसे हो? उदाहरण के लिये, पार्थिव सम्बन्धों के प्रति हमारे प्रेम को लीजिये। इसके कई रूप या भेद हैं; माँ का सन्तान के प्रति प्रेम, पति का पत्नी और पत्नी का पति के प्रति प्रेम, माता-पिता के प्रति प्रेम, मित्रों के प्रति प्रेम, धन-सम्पत्ति के प्रति प्रेम, नाम-यश के प्रति प्रेम आदि आदि। ये सभी प्रेम शब्द के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि ये परम प्रेम हों।

कौन-सा तत्त्व प्रेम को परम प्रेम बनाता है? इस परम प्रेम के सिवा अन्य हर तरह का प्रेम स्व-केन्द्रित है; स्पष्ट शब्दों में कहा जाय, तो ये सभी स्वार्थपूर्ण प्रेम हैं। केवल ईश्वर के प्रति प्रेम ही शुद्ध नि:स्वार्थ प्रेम है। इस कथन पर आपत्तियाँ हो सकती हैं। कहा जा सकता है कि हमारे पार्थिव सम्बन्धों में भी नि:स्वार्थ प्रेम के उदाहरण मिलते हैं। यथा माँ का सन्तान के प्रति प्रेम सचमुच नि:स्वार्थ होता है। पत्नी का पति के प्रति प्रेम और पति का पत्नी के प्रति प्रेम भी नि:स्वार्थ हो सकता है। अत: जब ऐसे नि:स्वार्थ प्रेम के कुछ उदाहरण मिलते हैं, भले ही आम तौर पर न मिलते हों, तो भी इन्हें नि:स्वार्थ प्रेम कहना बिल्कुल ठीक है। इस आपत्ति का उत्तर है – नहीं। ये सब विभिन्न प्रकार के प्रेम मूलत: स्वार्थपूर्ण हैं। ऐसा इसलिये है क्योंकि वे प्रेमी के इर्द-गिर्द ही केन्द्रित हैं। माँ अपनी सन्तान से इसलिये प्रेम नहीं करती कि वह सन्तान है, अपितु इसलिये कि वह अपनी सन्तान है। अत: प्रेम अपने स्वजन पर केन्द्रित है। आप को सर्वत्र यह देखने को मिलेगा कि नि:स्वार्थ प्रेम में भी एक तरह की स्वार्थपरता का रंग चढ़ा रहता है। ऐसे मामलों में सर्वप्रथम 'मैं' और 'मेरा' का प्रश्न उठता है। इस सम्बन्ध के बिना प्रेम हर जगह दृढ़ नहीं रह सकता। बच्चा एक सुन्दर 'गुड़िया' से केवल इसलिये प्रेम नहीं करता कि वह सुन्दर है, बल्कि इसलिये करता है कि वह उसकी अपनी 'गुड़िया' है। ऐसे प्रेम के साथ सर्वदा यह अधिकार-भाव जुड़ा रहता है। इसीलिये हम इसे स्वार्थपूर्ण प्रेम कहते हैं। दिव्य प्रेम के अलावा अन्य हर प्रकार का प्रेम स्वार्थपूर्ण है, क्योंकि दिव्य प्रेम में 'मैं'-'मेरा' का कोई सम्बन्ध नहीं होता। जब हम ईश्वर से प्रेम करते हैं, तो हम उनसे इसलिये प्रेम नहीं करते कि वे अन्य किसी के नहीं, केवल मेरे ईश्वर हैं। इसमें वह अधिकार-भाव नहीं है। जब हम ईश्वर-प्रेम के बारे में सोचते हैं, तो स्पष्ट है कि हम ईश्वर पर अधिकार नहीं रखते, अपितु हम ईश्वर से इसलिये प्रेम करते हैं कि वे ही प्रेम के योग्य हैं। हम उन्हें इसलिये प्रेम करते हैं कि एकमात्र ईश्वर ही हमारे सर्वोच्च प्रेम के योग्य पात्र हैं। इसी का अर्थ है – 'किसी अन्य वस्तु के लिये नहीं, अपितु केवल प्रेम के लिये ही प्रेम करना।''

ईश्वर हमें इसलिये प्रिय हैं, क्योंकि वे ईश्वर हैं, बस इतना ही। इसके साथ किसी अन्य प्रकार का स्वार्थपूर्ण सम्बन्ध नहीं जुड़ा है। इस प्रकार नि:स्वार्थता के कारण यह गुण तथा

मात्रा – दोनों दृष्टियों से ही यह 'परम प्रेम' है। मैंने मात्रा की दृष्टि से भी इसलिये कहा, क्योंकि हम सांसारिक प्रेम में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं देख पाते हैं, जिसमें व्यक्ति अपने आपको ही इतना विस्मृत कर बैठे।

तो क्या माता का अपनी सन्तान के प्रति प्रेम नि:स्वार्थ नहीं है? अवश्य है। वह प्रेम कुछ हद तक नि:स्वार्थ है। सम्भवत: जागतिक सम्बन्धों में नि:स्वार्थ प्रेम का यह सर्वोत्तम उदाहरण है। कम-से-कम अपने पुत्र के शैशव में तो माता उससे कोई प्रत्याशा नहीं रखती। जब बालक बड़ा होकर समाज का उपयोगी सदस्य बन जाता है, तब माता उससे प्रतिदान की आशा कर सकती है। तब भी, यह नि:स्वार्थ प्रेम नहीं है, क्योंकि इसमें अधिकार-भाव है, 'ममत्व' है। वह उसकी अपनी सन्तान है, इसलिये उसके प्रति माँ का प्रेम है। दूसरे शब्दों में, उसका 'स्वयं' के प्रति प्रेम ही स्थानान्तरित होकर अभिव्यक्ति पा रहा है, क्योंकि बच्चा माता का ही विस्तृत व्यक्तित्व मात्र है। अत: जैसे वह स्वयं से प्रेम करती है, वैसे ही अपने बच्चे से भी प्रेम करती है और इस प्रकार यह स्वार्थपूर्ण प्रेम हो जाता है। अत: हमारे जागतिक सम्बन्धों के प्रेम पर सर्वत्र ही स्वार्थपरता का रंग चढ़ा रहता है। यह हानिकर प्रतीत हो सकता है, सम्भवत: यह अनेक लोगों को निराश कर सकता है, परन्तु यदि हम गहराई में जाकर विश्लेषण करें, तो पता चलेगा कि सत्य यही है।

अगली शंका यह है कि क्या इस जागतिक प्रेम की दिव्य प्रेम के साथ कोई समानता या तुलना है? – नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि ईश्वर-प्रेम में हमारे अधिकार का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रेम के दृष्टान्त-स्वरूप वृन्दावन की गोपियों के जीवन की घटनाएँ इसकी उदाहरण हैं? प्रेम के दृष्टान्त के रूप में गोपियों को प्रस्तुत किया जाता है। उसमें भी हमें जरा-सा अधिकार-भाव दिखाई देता है। परन्तु वह अधिकार प्रेमास्पद को किसी एक व्यक्ति तक सीमित नहीं रखता। हर कोई जानता है कि ईश्वर किसी व्यक्ति-विशेष के नहीं, बल्कि सबके ईश्वर हैं। भले ही ईश्वर को अपना परम आत्मीय कहने से वह मधुरता आ जाती है, परन्तु कोई भी ईश्वर को केवल अपना बनाकर रखने की मूर्खता नहीं करेगा।

यह मेरा-पन स्वार्थयुक्त नहीं है, क्योंकि हर कोई जानता है कि ईश्वर किसी एक के अपने नहीं हैं। तो क्या सचमुच यह सत्य है कि हमारे सारे जागतिक प्रेम स्वार्थपूर्ण हैं? यदि यह प्रेम स्वार्थपूर्ण है, तो स्वाभाविक है कि हम उसे इतना ऊँचा महत्त्व नहीं दे सकते। यदि वह नि:स्वार्थ है, तो यह प्रेम कहलाने योग्य नहीं है, क्योंकि यदि मैं किसी को अपना नहीं मानता, तो उसके प्रति मेरा प्रेम मात्र सतही होगा – उस प्रेम में गहराई नहीं हो सकती। क्योंकि प्रेम में जितनी अधिक प्रगाढ़ता होगी, अधिकार-भाव उतना ही अधिक और महत्तर होगा। यह सब बहुत स्पष्ट है, तो भी हम पर्दे के पीछे नहीं देख पाते। यह पर्दा जागतिक प्रेम बहुत अच्छा, बहुत पवित्र आभासित करता है और इसे लगभग स्वर्गिक बना देता है। परन्तु क्या हमने इसके भीतर की जाँच-पड़ताल कर ली है? इसमें 'मेरा' का भाव सर्वदा विद्यमान रहता है, जिसके बिना जागतिक प्रेम का अस्तित्व ही नहीं हो सकता।

इससे एक और निष्कर्ष निकलता है। माँ अपनी सन्तान से इसलिये प्रेम नहीं करती कि वह उसकी सन्तान है, अपितु अपने लिये प्रेम करती है। पति अपनी पत्नी से इसलिये प्रेम नहीं करता कि वह उसकी पत्नी है, अपितु अपने लिये करता है। पत्नी अपने पति से इसलिये प्रेम नहीं करती कि वह उसका पति है, अपितु अपने लिये करती है। तो ईश्वर के बारे में क्या है? क्या हम ईश्वर से इसलिये नहीं प्रेम करते कि इससे हमें सुख मिलता है? नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि ईश्वर से प्रेम करते समय हम अपने बारे में बिल्कुल नहीं सोचते। उस समय हम यह नहीं सोचते कि वे हमें सुखी बना देंगे, बल्कि ऐसे हर तरह के प्रेम में दिव्यता का भाव व्याप्त रहता है, क्योंकि ईश्वर प्रेममय हैं। हम ईश्वर से प्रेम किये बिना नहीं रह सकते, क्योंकि उनके साथ अन्तरंग सम्बन्ध रखने पर हम जानते हैं कि एकमात्र ईश्वर ही प्रेम के योग्य पात्र हैं, क्योंकि ईश्वर ही प्रेम हैं। वे प्रिय हैं, क्योंकि वे स्वयं प्रेमस्वरूप हैं।

ईश्वर की महानता का बोध – एक अन्य बिन्दु है, जिस पर हम बाद में चर्चा करेंगे। ऐसे निरक्षर-अज्ञानी भक्त, जिन्हें शास्त्रों का ज्ञान नहीं है, जो भक्ति-पथ की शिक्षाओं से अपरिचित हैं, ऐसे लोगों को भी यह बोध होता है कि उनके प्रेमास्पद में कुछ विशेष गुण हैं। भगवान से प्रेम करते समय वे जानते हैं कि वे ईश्वर को प्रेम करते हैं और ईश्वर का अर्थ है – एक ऐसा तत्त्व जो संसार से पूर्णतया पृथक् है। यही बोध इस प्रेम को सांसारिक प्रेम से भिन्न बनाता है।

अब इसे दूसरे ढंग से देखें। जब हम किसी वस्तु को विशुद्ध रूप से अपने लिये प्रेम करते हैं, तो ईश्वर को भी क्यों वैसे ही प्रेम करें? मैं इस शरीर से प्रेम करता हूँ। क्यों? क्योंकि यह मेरा शरीर है। अत: प्रेम किसी वस्तु के लिये है। जब शरीर को कष्ट होता है, तो हमें अच्छा नहीं लगता, क्योंकि उससे हमें सुख नहीं मिलता। अत: मेरा प्रेम शरीर के लिये नहीं, बल्कि आत्मा के लिये – मेरे लिये है। कोई पूछ सकता हैं कि इसमें भेद क्या है। भेद यह है कि जब हम अपने को आत्मा न मानकर भौतिक, मानसिक और बौद्धिक सत्ता समझते हैं, तो प्रेम विकृत या दूषित हो जाता है।

आगे चलकर हम देखते हैं कि शरीर हमें केवल इसलिये प्रिय नहीं है कि यह हमारा शरीर है या हम इसके स्वामी हैं। हम स्वयं अपने को सहज रूप से प्रिय हैं, पर शरीर इसलिये प्रिय है, क्योंकि यह हमें सुख प्रदान करता है। शरीर एक

माध्यम है, जिसके द्वारा हम सुख पाकर सन्तुष्ट होते हैं। हमारे मन, इन्द्रियाँ तथा अन्य पदार्थों के बारे में भी यही सत्य है। अत: केवल मैं सहज रूप से अपने को प्रिय हूँ। बाकी चीजें केवल इसलिये प्रिय हैं, क्योंकि वे आत्मा से जुड़ी हैं।

और ईश्‍वर क्या है? स्वयं आत्मा ही ईश्वर है। ईश्वर हमारी आत्मा हैं। इसलिये ईश्वर-प्रेम और आत्म-प्रेम का एक ही अर्थ है। जब आत्मा अपने अतिरिक्त शरीर, इन्द्रियों आदि से सम्बद्ध होती है, तो उनके प्रति हमारा आकर्षण दूषित हो जाता है। किन्तु जब हम ईश्वर से प्रेम करते हैं, तो उस प्रकार के दूषक तत्त्व वहाँ नहीं होते। एक दूषित होता है, तो दूसरा उदात्त रहता है। इस सम्बन्ध की यही विचित्रता है।

अब तक हुई चर्चा को संक्षेप में कहा जाय, तो ईश्वर के प्रति परम प्रेम ही भक्ति का स्वरूप है। भक्ति की परिभाषा क्या है? भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेम रूप है। इसे परम प्रेम रूप क्यों कहा गया? इसलिये कि परम प्रेम का वर्णन नहीं किया जा सकता। इसे क्यों वर्णित नहीं किया जा सकता? अति विशुद्ध वस्तु का वर्णन नहीं किया जा सकता, अत: परम प्रेम का भी वर्णन नहीं हो सकता। जब हम 'परम' कहते हैं तो यह परम प्रेम-जैसी या परम प्रेम के स्वरूप की होती है। परम प्रेम क्या है, इसे हम नहीं जान सकते। हम केवल तीव्र प्रेम से परिचित हैं, इसलिये ऐसे प्रेम के अनुभव -प्राप्त लोग ऐसे प्रेम से अनभिज्ञ लोगों को समझाने के लिये इसे परम प्रेम कहते हैं। अत: परम प्रेम उस तीव्र प्रेम जैसा कहा जाता है, पर यह केवल वही नहीं है। परम प्रेम तीव्र प्रेम मात्र नहीं है, क्योंकि तीव्र प्रेम अपवित्र होता है और परम प्रेम पवित्र। परम प्रेम अधिकांश लोगों की समझ के परे है, अत: भक्ति की परिभाषा देते समय कहा जाता है कि वह न केवल परम प्रेम है, अपितु परम-प्रेम-स्वरूप ही है।

अब तक हमने 'परम' की चर्चा की। एक बात और है। कहते हैं कि ईश्वर के प्रति प्रेम होने से ही उसे भक्ति कहते हैं। प्रेमपात्र यदि ईश्वर के अलावा कोई अन्य है, तो वह सच्ची भक्ति नहीं है। वह आसक्ति हो सकती है, भक्ति नहीं। सच्ची भक्ति केवल ईश्वर के प्रति ही होगी। सच्ची भक्ति के पात्र केवल ईश्वर हैं और जब हम गुरु या किसी सन्त के प्रति भक्ति की बात कहते हैं, तो यह एक प्रकार का 'स्थानान्तरण' मात्र है, क्योंकि गुरु या सन्त ईश्वर से सम्बद्ध होते हैं। हमारी भक्ति के एकमात्र लक्ष्य या पात्र ईश्वर और केवल ईश्वर हैं। भक्ति भगवान के प्रति परम प्रेम रूप होती है। भक्ति का अर्थ है प्रेम-भाव की एकनिष्ठता। यह इधर-उधर बिखरी नहीं होनी चाहिये। प्रेम के दो नहीं, केवल एक पात्र होना चाहिये और वह एकमात्र पात्र ईश्वर हैं।

अब कठिनाई यह है कि क्या हम दूसरों से प्रेम न करें? अवश्य करें, पर वहीं तक दूसरों से प्रेम किया जा सकता है, जहाँ तक वे ईश्वर, उनके मन्दिरों या उनके प्रतीकों से जुड़े हों। भक्त ईश्वर के सिवा किसी अन्य वस्तु को अपने हृदय में स्थान नहीं दे सकता। यहूदी धर्मशास्त्र में कहा गया है – "मैं एक ईर्ष्यालु ईश्वर हूँ।" जब मात्र ईश्वर ही हमारे हृदय में रहें, जब हमारा पूरा हृदय केवल उन्हीं से परिपूर्ण रहे, केवल तभी उसमें भक्ति का उदय होता है, अन्यथा नहीं।

भक्ति-मार्ग से सम्बन्धित एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसके साथ किसी प्रकार का स्वार्थपूर्ण विचार जुड़ा हुआ नहीं होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि भक्त कोई अन्य वस्तु पाने के लिये ईश्वर को माध्यम नहीं बनायेगा। ईश्वर केवल इसलिये प्रिय हैं कि वे ईश्वर हैं। हमें ईश्वर से कुछ भी अपेक्षा नहीं रखनी है – सुख की अपेक्षा भी नहीं। केवल ईश्वर ही लक्ष्य हैं, अन्य कुछ नहीं। हमें ईश्वर-कृपा के द्वारा सम्पत्ति, सुख-समृद्धि, नाम-यश आदि कोई भी अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये। हमें केवल ईश्वर की कामना करनी चाहिये। यदि ऐसा करने से हमें दुख-कष्ट मिले, तो उसका स्वागत है। यदि उससे असन्तुष्टि मिलती है, तो उसका स्वागत है। हम ईश्वर को इसलिये प्रेम नहीं करते कि वे हमें कुछ देंगे। ईश्वर से हमें कोई भी अपेक्षा नहीं है। सुख, आनन्द, शान्ति आदि सहज ढंग से आ सकते हैं, पर हमें उनकी कामना नहीं करनी चाहिये। हमें मुक्ति की भी इच्छा नहीं करनी चाहिये। हमें इस जन्म-मरण-चक्र से बचने की इच्छा भी नहीं करनी चाहिये। जहाँ प्रेम है, वहाँ मुक्ति की भी कामना नहीं होती।

तो फिर हम ईश्वर से प्रेम ही क्यों करते हैं? उल्टे पूछा जा सकता है – "हम स्वयं से प्रेम क्यों करते हैं?" हम स्वयं से प्रेम इसलिये करते हैं कि इस पर हमारा वश नहीं है। एक भक्त भी यही उत्तर देगा। भक्त ईश्वर से इसलिये प्रेम करता है कि वह प्रेम किये बिना रह नहीं सकता। एकमात्र ईश्वर ही प्रेम करने योग्य हैं। भक्त ईश्वर से इसलिये प्रेम नहीं करता कि ईश्वर भी उससे प्रेम करें। भक्त का आनन्द केवल देने में है, लेने में कदापि नहीं। वह ईश्वर से कोई अपेक्षा नहीं रखता। ईश्वर हमें जन्म-मरण से मुक्त कर देंगे, या अमर बना देंगे। निसन्देह ये सभी विचार भक्ति से जुड़े हैं। तो भी, ये प्रेम के केवल कुछ निम्नतर रूप हैं। जब हम भक्ति की परिभाषा देते हैं, तो सर्वोत्कृष्ट परिभाषा दी जानी चाहिये। निम्नतर रूपों के बारे में बाद में विचार किया जा सकता है।

अन्त में, क्या ऐसी भक्ति सम्भव है? यह सम्भव तो है, परन्तु केवल कुछ ही लोगों के लिये। अल्प लोग ही इतना ऊँचे उठ सकते हैं। अन्य लोगों के लिये, जो जहाँ है, उसे वहीं से शुरुआत करनी होगी। इसलिये, भक्ति स्वार्थपूर्ण हो, तो भी वह त्याज्य नहीं है। हम क्रमश: ऊँचे-से-ऊँचा उठकर अन्तत: लक्ष्य तक पहुँच जायेंगे। यह परिभाषा उस लक्ष्य का वर्णन करती है। ❖ **(क्रमश:)** ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

४८. लघुता से प्रभुता मिले

सम्राट् अशोक ने जब बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया, तो उसके बाद उन्हें जब भी कोई बौद्ध भिक्षु दिखाई देता, वे सिर झुकाकर उनका चरण स्पर्श करते। यह देखकर उनके मंत्री यश को दुःख होता। एक दिन उसने राजा से कह ही डाला – ''महाराज, धृष्टता क्षमा करें, आपने राजा होकर बौद्ध धर्म स्वीकार किया है, यह आपका व्यक्तिगत मामला है, पर हर भिक्षु को देखते ही सिर झुकाना एक राजा के लिये शोभा नहीं देता। राजा को अपने पद का सम्मान रखना ही चाहिये।''

अशोक उस समय तो चुप रहे, परन्तु थोड़ी देर बाद उन्होंने सिपाहियों को बूचड़खाने से बकरों और भेड़ों के दो-दो सिर खरीदकर ले आने को कहा।

उनके लाये जाने पर उन्होंने सिपाहियों से कहा – ''अब बाजार से दो नरमुण्ड भी खरीदकर ले आओ।''

सिपाहियों ने कहा – ''नरमुण्ड तो बाजार में बिकते नहीं और न ही उन्हें कहीं से प्राप्त किया जा सकता है।''

अशोक ने यश से पूछा – ''मंत्रीजी, क्या ये सिपाही सच कह रहे हैं?''

यश ने जवाब दिया – ''हाँ महाराज, सिपाही ठीक बता रहे हैं। नरमुण्ड की कोई कीमत न मिलने के कारण उन्हें बेचा नहीं जाता।''

राजा ने फिर पूछा – ''इसका मतलब नरमुण्ड या मनुष्य के मस्तक का कोई मूल्य नहीं है। मगर ऐसा क्यों?''

यश बोला – ''महाराज, इसकी वजह यह है कि एक तो उनका कोई उपयोग नहीं है और दूसरे लोग उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

राजा ने पूछा – ''तब तो बाद में लोग मेरे मुण्ड से भी घृणा करेंगे?''

यश ने झिझकते हुये उत्तर दिया – ''हाँ महाराज, दुर्भाग्य से आपके मस्तक को भी लोग घृणा की दृष्टि से देखेंगे।''

अशोक ने गम्भीर होकर कहा – ''लोग मेरे मस्तक से घृणा करेंगे, तो क्या मैं भी ऐसा करूँ? मैं यदि भिक्षुओं से के सामने अपना सिर नवाता हूँ, तो इसमें हर्ज ही क्या है? फिर भिक्षु सामान्य-जन तो हैं नहीं। उनके समक्ष कोई व्यक्ति, चाहे वह राजा ही क्यों न हो, यदि आदर व्यक्त करने के लिये नतमस्तक होता है, तो इसमें अशोभनीय क्या है?''

राजा की बात सुनकर यश शर्मिन्दा हुआ। राजा ने आगे कहा – ''हमें स्वयं सम्मान की आशा छोड़कर दूसरों का सम्मान करना चाहिये। समर्पण में आशा-आकांक्षा का कोई स्थान नहीं होता। **'अहंता' का परित्याग ही समर्पण है।** हमें कभी दूसरों को नीचा और स्वयं को ऊँचा नहीं समझना चाहिये। दूसरे को छोटा नहीं, बल्कि स्वयं को छोटा समझने में ही मनुष्य का बड़प्पन है। यही भाव मनुष्य को ऊँचा उठाता है।''

४९. सबै एक समान हैं, जो सुमिरे जस नाम

शाहजहाँ को जब पता चला कि शहर में एक धनाढ्य ब्राह्मण रहता है, तो उसने उसका धन हड़प करके राजकोष में जमा करने की सोची। उसने ब्राह्मण को बुलाकर कहा – ''आपकी विद्वता की शहर में खूब चर्चा हो रही है। मेरे मन में बार-बार एक प्रश्न उठता है। क्या आप उसका समाधान करेंगे? यदि आप न कर सकें, तो मैं समझूँगा कि आप ढोंगी हैं और तब मुझे आपके खिलाफ कार्यवाही करने को मजबूर होना पड़ेगा। प्रश्न यह है कि हमारे देश में इतने धर्म हैं। बताइये, उनमें कौन-सा धर्म सबसे श्रेष्ठ है?'' ब्राह्मण समझ गये कि बादशाह की नीयत ठीक नहीं है, इसलिये उसने सोचा कि युक्ति से काम लिया जाये। वे बोले – महाराज, इसे समझाने के लिये मैं आपको एक कहानी सुनाता हूँ –

एक राजा के पाँच बेटे थे, पर उसके पास कीमती हीरा एक ही था। इसलिये उसने उसी के समान दिखनेवाले कम मूल्यवाले चार और हीरे बनवाये और हर बेटे को अलग बुलाकर एक हीरा देते हुए कहा – ''वह बेशकीमती हीरा तुम्हीं को दिया जा रहा है। यह बात तुम अपने तक ही सीमित रखना, किसी दूसरे को न बताना।'' कुछ क्षण खामोश रहकर ब्राह्मण आगे बोला, ''धर्म भी उन हीरों के सामन हैं। कोई धर्म बड़ा नहीं होता। हर धर्म में एक ही मालिक होता है और लोग अपने ही धर्म को श्रेष्ठ मानते हैं। एक ही परमात्मा अनन्त रूपों में अभिव्यक्त होता है। जैसे एक ही आग या एक ही हवा अव्यक्त रूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होती है, उनमें कोई भेद नहीं है, परन्तु वही आग किसी आधार-वस्तु में व्यक्त होकर जलने लगती है या वह हवा व्यक्त होकर विभिन्न वस्तुओं के संयोग से उन्हीं के अनुरूप बहती है, वैसे ही परमात्मा सबमें सम-भाव में व्याप्त हैं। कोई धर्म दूसरे से हीन नहीं है। अपने-अपने स्वरूप में सबकी महत्ता है – सबकी सार्थकता है।'' बादशाह ब्राह्मण के इस उत्तर से सन्तुष्ट हुआ और उसे ससम्मान विदा कर दिया। ❑❑❑

आत्माराम की आत्मकथा (३०)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसके अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

चिकित्सार्थ वाराणसी में

सबने काशी जाने को कहा। मैंने भी सोचा – वही ठीक रहेगा। वहाँ जाकर होम्योपैथी चिकित्सा करायी जाय और वहाँ के संचालक यदि झोल-भात दें, तो बड़ी जल्दी ठीक हो जायेगा। द्वारकावासियों के अनुग्रह से काशी तक का किराया था, बल्कि कुछ अधिक ही था, अत: उसकी चिन्ता नहीं थी।

एक महीने के अन्दर ही काशी गया। श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम में ठहरा। जब सबको मेरे रोग के बारे में जानकारी मिली, तो कई लोगों ने कई प्रकार की दवा बताई – होम्योपैथी, इंजेक्शन और टोटका – कुछ भी बाकी न रहा। पहले सेवाश्रम के वृद्ध होम्योपैथी डॉक्टर को दिखाया। परन्तु दस-बारह दिन उनकी दवा लेने के बाद भी जब कोई लाभ नहीं हुआ, तब मैंने वहाँ के तत्कालीन संचालक फणी महाराज को यह बात बताई। उन्होंने थोड़ी चर्चा करने के बाद 'एमीटीन' का इंजेक्शन लेने को कहा। उसे लगवाने से पहले मैंने सोचने के लिए थोड़ा समय माँगा। उसमें मेरा विश्वास भी नहीं था और कितने इंजेक्शन लगेंगे, यह भी बता पाना कठिन था। इंजेक्शन की कीमत भी बहुत थी। उन्होंने कहा – "पहले कुछ इंजेक्शनों के साढ़े तीन रुपये लगेंगे और उसकी व्यवस्था मुझे ही करनी होगी।" मैंने कहा – "मैं बड़ा आदमी नहीं हूँ।" उन्होंने कहा – "पत्र आदि लिखकर मँगवा लीजिये।" जीवन में ऐसा कार्य कभी नहीं किया था, अत: निश्चय किया कि होम्योपैथी ही चलाई जाय।

अद्वैताश्रम के योगी महाराज सब सुनकर बोले – "एक सप्ताह यह नुस्खा आजमा कर देखो, यदि लाभ न हो तो अन्य कुछ करना।" नुस्खा था – "जामुन के पेड़ के छाल का रस एक तोला, आम के पेड़ की छाल का रस एक तोला, बेल और आँवले के पत्तों का रस एक-एक तोला। उसके साथ एक पाव बकरी का धारोष्ण ताजा दूध, मिसरी या चीनी मिलाकर दिन में दो बार और यदि सम्भव न हो तो सुबह में एक बार। आम के पेड़ की छाल और आँवले के पत्ते उपलब्ध न हों, तो बाकी तीन से भी काम हो जायेगा।" मैंने कहा – "कृपया आप ही इनकी व्यवस्था कर दीजिये।" पेड़ के पत्ते तो पास ही मिल गये और आश्रम की नौकरानी से कहकर उन्होंने दोनों समय दूध की व्यवस्था कर दी। नौकरानी ही प्रतिदिन पत्तों का रस निकाल देती थी। पाँच दिन पीते ही लाभ महसूस होने लगा। शरीर में स्फूर्ति आई। बकरी के ताजे धारोष्ण दूध ने काफी लाभ किया। उसी समय कलकत्ते के डॉक्टर बख्शी काशी आये और मेरे रोग के बारे में सुनकर कहा – "न खाने और अनियमितता के कारण ही ऐसा हुआ है। कुछ दिन नियमित रूप से पुष्टिकर स्निग्ध भोजन करने से ही ठीक हो जायेंगे। आप कलकत्ते चलकर मेरे यहाँ ठहरिये। मकान खाली है, सभी लोग गाँव गये हैं। चलिए, आप मेरी चिकित्सा करना और मैं आपकी करूँगा।" जाने के लिए राजी हुआ, परन्तु बोला – जिससे मुझे लाभ हो रहा है, उसे कुछ दिन और करने के बाद जाऊँगा। लाभ सचमुच ही काफी हुआ था – थोड़ा-थोड़ा खून आया था, परन्तु वह तीसरे दिन ही बन्द हो गया। फिर आठ-दस दिन काफी लाभ हुआ, पर आँव गिरना बन्द नहीं हुआ। काली दा ने फिर एक दिन कहा – "क्या हुआ? 'एमीटीन' लाने को कहूँ।" मैंने कहा – "उसे लेने की जरूरत होने पर कलकत्ते जाकर ही लूँगा, यहाँ अब और कष्ट मत कीजिये।" कलकत्ते जाकर डॉक्टर बख्शी से चिकित्सा कराने का निश्चय हुआ।

कलकत्ते में

हावड़ा से सीधा उद्बोधन कार्यालय गया। वहाँ प्रसाद पाकर उसी दिन पूजनीय शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्दजी) की अनुमति लेकर डॉक्टर महाराज (पूर्णानन्दजी) के निर्देशानुसार डॉक्टर बख्शी के मकान पर गया। उन्हें पहले से ही सूचित कर रखा था कि यदि वे उपस्थित न भी हों, तो अपने यहाँ भोजन पकाने में सहायता करनेवाले 'गदाई'[१] नाम के उड़िया लड़के को कहकर सब व्यवस्था करा रखें। अत: वहाँ कोई असुविधा नहीं हुई। पथ्य की व्यवस्था हुई – दही-भात, दूध-भात, केला और गाय का घी। उनके पूजा-कक्ष में ही पर्दा लगाकर व्यवस्था हुई थी। पूजा के कमरे में भला कैसे रहा जा सकता है? बड़ा संकोच होने लगा। रात को डॉक्टर के आने पर अपनी आपत्ति बताई, तो वे बोले – "आप लोग संन्यासी हैं। सदा शुद्ध तथा स्वच्छ रहते हैं। स्नानादि न कर सकें, तो भी कोई दोष नहीं होगा। आप निश्चिन्त रहिये।"

१. बाद में संन्यासी और विशेष विद्वान् हुए – स्वामी जगन्नाथानन्द

अगले दिन सुबह दवाखाने जाने से पूर्व कहा – "आप निश्चिन्त होकर रहें, कोई संकोच मत कीजियेगा। जिस चीज की जरूरत हो गदाई से कहिए। और ये कुछ पैसे रखकर जा रहा हूँ, आवश्यकतानुसार निकाल लीजियेगा।" फिर पाँच रुपये की रेजगारी एक आले में सजाकर रख दिया और बोले – "मुझे लौटने में देरी हो जाती है दोपहर को एक-दो बज जाते हैं और शाम को जाकर लौटने में रात के दस-ग्यारह बज जाते हैं। मास्टर महाशय के यहाँ रोज जाता हूँ, इसलिये रात में देरी हो जाती है, मेरी प्रतीक्षा मत कीजियेगा।"

उनका भाई विनय (जो बाद में संन्यासी हुआ था), उस समय मिहिजाम या कहीं और गया हुआ था। उनकी वृद्धा माँ शय्याशायी अवस्था में एक अन्य कमरे में थीं – यह मुझे मालूम नहीं था। एक रात उनका कराहना सुनकर दूसरे दिन उनसे पूछने पर ज्ञात हुआ कि वे कई दिनों से इसी हालत में हैं। गदाई उनकी सेवा करता है। समय पाने पर वे भी करते हैं। मन-ही-मन ऐसा सोचा – "आश्चर्य ! इस अवस्था में भी उनकी पत्नी अपने गाँव में और भाई विनय कहीं और है" – पर बोला कुछ नहीं। डॉक्टर बाबू के साथ मुलाकात होती भोर तथा संध्या के समय और किसी-किसी दिन रात को।

एक विषय में मैं उनसे बड़ा प्रभावित हुआ था, वह था उनकी नियमित आदतें – वे प्रतिदिन रात को चार या साढ़े चार बजे उठकर, हाथ-मुँह धोकर, पूजा के कमरे में ध्यान-जप करते और बागबाजार घाट से सुबह की पहली स्टीमर पकड़कर बेलूड़ मठ जाकर दूसरे स्टीमर से लौट आते। (यह सम्भवत: मास्टर महाशय का आदेश था। भोर में मठ जाकर श्रीठाकुर को प्रणाम करना और साधु-दर्शन आदि करना।) फिर शाम के बाद मास्टर महाशय के (आर्महर्स्ट स्ट्रीट के) मकान में जाकर रात को १०-११ बजे लौटते।

माँ की ऐसी अवस्था से भी उनकी दिनचर्या में कोई परिवर्तन नहीं आया था। वे प्रतिदिन सुबह-दोपहर और रात को माँ की खबर लेते, औषध आदि की व्यवस्था करते – यह सब नियमित रूप से चलता था और विशेष कुछ नहीं जानता था। और अधिक जानने से कहीं मन में कुछ हो, इसलिए चुप रहना ही श्रेयस्कर समझा था। क्योंकि ऐसे कर्तव्य-परायण धर्मनिष्ठ विनयी श्रद्धालु सज्जन अपना कर्तव्य अपने ढंग से ठीक-ठीक ही कर रहे थे, इसमें सन्देह नहीं।

एक दिन उद्बोधन-कार्यालय में सिद्धानन्दजी से भेंट हुई, तो वे अपने भाई के मकान पर ले गये और अपने पास रहने की जिद करने लगे। इसी बीच पुरातन प्रिय मित्र तथा धर्म-जीवन के प्रथम साथी – त्रिलोचन (छोटे मास्टर) के साथ भेंट करने गया। इसके साथ ही वहीं रहनेवाले एक अन्य बालसखा – गौर के साथ मुलाकात करना और यदि 'माँ' हों, तो उनके भी दर्शन करने का उद्देश्य था। सभी के साथ मुलाकात हुई। त्रिलोचन और उनके बड़े भाई चाँपातला में हम लोगों के निवास-भवन में माणिक के हिस्से में केवल एक कमरा लेकर निवास करते थे। उन लोगों के आग्रह पर मेरा त्रिलोचन के घर में रहना तथा गौर के घर खाना निश्चित हुआ। कुछ दिनों बाद ही वहाँ जाने वाला था। इसी बीच छोटा भाई (शिवेन) शोक-सन्देश लेकर आया – "कुछ ही दिन हुए पिताजी का स्वर्गवास हो गया है। जाने से पूर्व वे बारम्बार आपकी ही बात कह रहे थे। एक बार भेंट नहीं हुई, आदि आदि। आपका पता किसी को ज्ञात न होने के कारण आपको सूचित नहीं कर सके। एक बार घर नहीं आइयेगा?"

उनके यहाँ गया। बाकी लोगों के साथ भेंट हुई। वे अपने समय से गये थे, इसलिए शोक करने की कोई बात नहीं थी। श्राद्ध अपने चन्दननगर के निवास-स्थान में नहीं, बल्कि पूर्वाश्रम के वंश के आदिस्थान – सुगन्दा में होगा। घर में कहा कि मुझे भी जाना होगा। संन्यासी के लिए श्राद्ध में उपस्थित होना वांछनीय नहीं है – कहने पर भी कोई बिल्कुल भी सुनने को तैयार नहीं था। आखिरकार मेरे बड़े भाई (नगेन) अपने कर्मस्थल से छुट्टी लेकर आये और मुझे जबरदस्ती सुगन्दा ले गये। सभी उपस्थित थे। दोनों चाचा भी थे। कुटुम्ब में मेरे पिता ही ज्येष्ठ थे। मैं अपने भाई भूपेन के साथ अविनाश के मकान में ठहरा। वहीं रसोई की व्यवस्था हुई थी और वे उसकी देखरेख करते थे।

कुछ दिन पूर्वाश्रम के सगे-सम्बन्धियों के साथ बिताया, लेकिन मन की अवस्था अन्य प्रकार की थी। लगता था मानो कोई अतिथि-अभ्यागत होऊँ। किसी भी प्रकार रुचि नहीं ले सका – मेरा अपना अब कौन है? अपने केवल भगवान ही तो हैं और दुनिया के सारे लोग। ये लोग भी तो उसी में आते हैं। ये लोग अपने हैं भी और नहीं भी हैं।

श्राद्ध के दिन सबने आँसू बहाये। बड़े भाई ने जब सिर मुड़वाने की बात कही, तो मैंने कहा – "वह तो बहुत पहले ही हो गया है, अब जरूरत नहीं है।" आश्चर्य की बात, अन्य किसी ने कुछ नहीं कहा, पुजारी भी चुप रहे। सबने समझ लिया कि मैं संन्यासी हो गया हूँ – स्वतंत्र हूँ, जो करूँगा अपनी इच्छानुसार करूँगा। गाँव या सम्बन्धियों के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति का बोध नहीं हुआ। कार्य के अन्त में सब चन्दननगर चलने को कह रहे थे, पर मेरी इच्छा नहीं हुई। बाल्य-स्मृतियों के कारण नहीं, पर बिल्कुल भी इच्छा नहीं हुई। बाकी सब लोग गये और मैं कलकत्ते लौटा।

डॉक्टर बख्शी को बताकर गया था – त्रिलोचन के विशेष आग्रह पर एक दिन उसके यहाँ बिताकर दूसरे दिन अपराह्न में ३-४ बजे के करीब डॉक्टर के घर जो थोड़ा-सा समान पड़ा था, उसे लाने जा रहा था, तो देखा – डॉक्टर बख्शी और बहुत-से लोग अर्थी लेकर जा रहे थे। मैं पास के ओवर

-ब्रिज के ऊपर से देख रहा था। समझ गया कि उनकी माँ ने देहत्याग कर दिया है। उस दिन उनके यहाँ नहीं गया, बाद में एक दिन जाकर अपना सामान और विदा ले आया।

तब पेट पूरी तौर से ठीक न होने पर भी काफी अच्छी हालत में था। कब्ज थी और आँव भी पड़ता था। डॉक्टर बाबू बोले – "अच्छी तरह घी आदि खाने से ठीक हो जायेगा।" और ठहरने को कहा, लेकिन जब बताया कि अब मन नहीं चाहता, तो कहने लगे – "आपकी इच्छा।" फिर कहा – "जो पैसे रखे थे, उन्हें तो आपने खर्च ही नहीं किये, वे आपको लेने पड़ेंगे।" आले में पैसे यथावत् पड़े हुए थे। मैंने उनका स्पर्श तक नहीं किया था। मैंने केवल ट्राम-भाड़ा लेकर विदा ली। ऐसे भले और सज्जन लोग बहुत कम ही देखने को मिले हैं। वे यथार्थ भक्त और गुप्त सन्त थे।

अमरनाथ की पुकार

इस प्रकार बंगाल और कलकत्ता में कुछ महीने बिताकर गर्मी के शुरू में काशी आया। देखा – कश्मीर-अमरनाथ जाने की बात चल रही है। लोभ हुआ, भय भी हुआ कि कहीं रोग बढ़ न जाय। पर अमरनाथ खींचने लगे। पास में पैसे अत्यल्प ही थे, हिसाब करके देखा तो किसी प्रकार हरिद्वार तक पहुँचा जा सकता था। रामदा, दयानन्द स्वामी और मैं – ये तीन जने – रास्ते में अयोध्या का दर्शन करते हुए हरिद्वार जाने के लिये रवाना हुए। निश्चय हुआ कि वहाँ पहुँचकर अमरनाथ जाने की बात पक्की करेंगे।

अयोध्या घूम-घूमकर सब देखा गया। मैं पहले भी एक बार आ चुका था। इसके बाद हम लोग फैजाबाद घाट गये। फिर स्नान आदि करके बाजार से पूड़ी-तरकारी लाकर घाट के किनारे एक पीपल के पेड़ के नीचे आसन जमाकर खाने की व्यवस्था कर रहे थे कि ऊपर से एक बन्दर ने टट्टी कर दिया और वह हमारे खाने के पास ही गिरा। वैसे खाने पर नहीं गिरा, परन्तु रामदा को सन्देह हुआ कि कुछ छींटे तो जरूर पड़े होंगे, इसलिए उन्होंने उसमें से बिल्कुल भी नहीं खाया और बाजार से लाने भी नहीं दिया। हम दोनों ने उस पर सरयू का जल छिड़ककर और ब्रह्मार्पण करके खा लिया।

सुना कि पास ही एक योगिराज रहते हैं। दयानन्द स्वामी और मैं उनसे मिलने गये। देखा – उनका निवास-स्थान एक शिव-मन्दिर जैसा गुम्बज-युक्त है और भीतर एक गुफा बनी हुई है। उनका वहीं महासमाधि लेने का संकल्प था, इसीलिए स्वयं ही ठोस व्यवस्था कर ली है, ताकि चेलों को असुविधा न हो। मृत्यु के पश्चात् उनको वहीं समाहित कर देंगे और ऊपर एक शिवलिंग लगा देंगे, बस, योगीराज की समाधि हो जायेगी। रास्ते में कुछ फैजाबादी खरबूजे खरीदकर गाड़ी में उसी को खाया गया। रामदा ने भी खाया।

हरिद्वार – कनखल में सेवाश्रम में जाकर ठहरे। दयानन्द स्वामी ने मेरे साथ सत्र में भिक्षा की – रामदा ने नहीं की।

हिसाब करके देखा गया – उन दोनों का हो जायेगा। मेरे पास तो रावलपिण्डी तक का भी किराया न था। इसलिये अब क्या उपाय हो? वे बोले – पत्र आदि लिखकर मँगवा सकते हो, तो हो सकता है। परन्तु मैं वैसा करने को राजी नहीं हुआ। एक की इच्छा थी कि मुझे किसी प्रकार ले जायें, फिर कश्मीर पहुँचकर कुछ व्यवस्था हो जायेगी, लेकिन दूसरे ऐसा जोखिम उठाने को राजी नहीं थे। मैंने स्पष्ट रूप से कहा – "मुझे छोड़कर आप लोग चले जाइये। यदि ईश्वर की इच्छा से कोई व्यवस्था हुई, तो कश्मीर जाऊँगा।" वे लोग लाहौर, अमृतसर और रावलपिण्डी होते हुए कश्मीर गये और मैं पिण्डी की ओर रवाना हुआ।

देवीपुरी जी का मठ

काफी मार्ग पार करके अपने दादागुरु तोतापुरी जी के मठ की तलाश में पहले तो लुधियाना जिले के किला-रायपुर में श्री देवीपुरीजी के आश्रम में गया। किसी ने बताया था कि वे ही बता सकेंगे और सम्भवत: वे भी उसी परम्परा के हैं। किला-रायपुर में श्री देवीपुरी जी के आश्रम में पहुँच गया।

पहुँचते ही स्वागत हुआ। एक नेपाली संन्यासी ने एक सर्कस के मण्डप जैसे विशाल गोल कमरे में खाट बिछा दी। उसमें दीवार के किनारे-किनारे वैसी ही २० खाटें लग सकती थीं। बीच में खाली रहता है। पुरीजी शाम को वहाँ एक घण्टा उपदेश देते हैं। वहाँ आसानी से सौ लोग बैठ सकते हैं। हर दो खाटों के बीच एक-एक दरवाजा था। सब कुछ एम्पीथियेटर के समान खुला हुआ था।

आसन रखकर स्नान आदि करके तैयार होते ही शाम के भोजन का घण्टा बजा। नेपाली बाबाजी मुझे बुलाकर ले गये और बैठा दिया। रोटियाँ और प्याज मिलाकर बनी हुई चने की सब्जी पहली बार खाने को मिली। अच्छा लगा। वहाँ कई दिन रहा। आनन्द आ रहा था। क्रमश: उन नेपाली बाबाजी के मुख से इस आश्रम की व्यवस्था आदि के बारे में सुनने को मिला। पता चला कि वहाँ बड़ी अद्भुत व्यवस्था है। सभी लोग स्वतंत्र हैं – पुरीजी शिष्यों को भी कोई कार्य करने का आदेश नहीं देते, कोई गुरुभाई भी किसी अन्य को आदेश नहीं देता। सभी लोग स्वेच्छानुसार कार्य करते हैं। भण्डार खुला ही रहता है। अन्नादि सब गाँव के लोग स्वेच्छापूर्वक ही दे जाते हैं और 'स्वेच्छा' की टोकरी घुमाकर जो भी मिल जाता है अर्थात् एक शिष्य टोकरी लेकर माधुकरी करने जाते हैं – उसमें पूरे गाँव के लोग रोटी-दाल देते हैं। यदि वे भिक्षा के लिये नहीं जायँ, तो कोई कहनेवाला नहीं है, जाना या न जाना – उनकी खुशी।

एक दिन एक घटना हुई। प्रतिदिन सुबह सरदाई (शरबत) मिलता था। पर उस दिन किसी ने दिया नहीं। देखा कि साधु लोग व्यक्तिगत रूप से अपनी-अपनी व्यवस्था करके पी रहे हैं, परन्तु मैं नया था इसलिये वहाँ की परम्परा से परिचित न था। उस दिन सुबह खाने का घण्टा भी नहीं पड़ा। मैं बैठा ही रहा। बाकी साधु लोग इधर-उधर खिसक गये। मुझसे किसी ने कुछ भी नहीं कहा। बैठा ही रहा। लगभग शाम के समय घण्टा पड़ा और सामान्य भोजन हुआ।

नेपाली बाबाजी हर रोज रात को एक बार आकर बातचीत कर जाते थे। (ऋषीकेश के वृद्ध पुरातन नेपाली बाबा के छत्र में इन्होंने मुझे पहले देखा था और वे वृद्ध मेरा थोड़ा विशेष ख्याल करते थे, यह भी देखा था, उसी परिचय से यहाँ घनिष्ठता हो गयी थी।) उस रात काफी देर से आये। बोले – "लगता है आज आपको बड़ा कष्ट हुआ है। आपने भण्डार में जाकर अपने हाथ से लेकर कुछ बना क्यों नहीं लिया? आज सुबह सरदाई बना नहीं सका। जो रोटियाँ बनाते थे, वे आज थे नहीं और गाँव से लाते थे, वे भी उनके साथ काम से दूसरे गाँव गये थे। इसीलिये आज रोटियाँ भी नहीं आयीं और भण्डार में भी भोजन नहीं बना। आप सीधे जाकर जो भी जरूरत होगा ले लेंगे, नहीं तो भूखे रह जायेंगे। देखिये न, आपको कितना कष्ट हुआ !" सुनकर मैं अवाक् रह गया। यहाँ ५०-६० लोग प्रतिदिन पंगत में बैठते हैं और व्यवस्था ऐसी है। मैं बोला – "आप लोगों की अनुमति के बिना भण्डार से कुछ लेना क्या उचित होगा?"

नेपाली बाबा – "अरे महाराज, यहाँ सभी स्वतंत्र हैं। गुरु महाराज कुछ भी नहीं कहते। हम लोग अपनी मर्जी से कार्य करते हैं। भण्डार खुला ही रहता है। अन्य साधुओं ने यथा आवश्यक लेकर खाया है। किसी-किसी ने गाँव में माधुकरी करके खाया। गलती मेरी ही है। यहाँ की 'अनोखी' व्यवस्था की बात आपको पहले से ही बतला देना उचित था।

मैं – "परन्तु यह तो बड़ा मजेदार है !"

नेपाली बाबा – "हाँ, ऐसे ही चल रहा है। परन्तु गुरुजी की ऐसी महिमा है कि किसी चीज का अभाव नहीं होता। अपने आप ही सब कुछ आ रहा है, लोग अनाज – अन्न ढाल जाते है !"

मैं – "वाह, अच्छा साधुभाव है। संन्यासी को ऐसा ही होना अच्छा है – अयाचक वृत्ति ! और अपने आप जो भी आ जाय, उसी को लेकर चलाते हैं। मुझे यह बहुत अच्छा लगा है, परन्तु इस कोलाहल-मन्दिर में अधिक दिन रह पाना असम्भव है – साधन-भजन नहीं किया जा सकता।

नेपाली बाबा – "ऐसा क्यों, रहिये न ! इस आश्रम में जहाँ खुशी, एक कुटिया बना लीजिये, मैं भी मदद कर दूँगा। आप मुझे बड़े अच्छे लगते हैं।"

मैं – "कितने में बनता है? मेरे पास तो रुपये नहीं हैं।"

नेपाली बाबा – "इस आश्रम की सीमा में मजदूर-मिस्त्री लाने की अनुमति नहीं है। अपनी मेहनत से ही सब करना पड़ता है। ये मकान जो आप देख रहे हैं, ये सब हम लोगों ने स्वयं बनाये हैं और शिष्यों ने स्वेच्छा से जितना हो सका, शारीरिक परिश्रम या सामान देकर सहायता की है।

मैं – "कहते क्या हैं, ये सब तो बहुत अच्छे मकान हैं ! और कई तो इसमें दुमंजले हैं। अद्भुत !"

नेपाली बाबा – "हाँ, यह सब हम लोगों द्वारा अपने हाथ से, अपनी मेहनत से बनाया हुआ है। आप बनायें, तो मैं आपको सहायता दे सकता हूँ। मिट्टी की चीज है – गर्मी के दिनों में मिट्टी खूब ठण्डी रहती है और सर्दी के दिनों में भी अच्छी रहती है। ८-१० दिनों में ही बन जायेगी।"

मैं तो सुनकर अवाक् रह गया – विशाल आश्रम है – अनेक मकान, वैसे सब मिट्टी के ही बने है, परन्तु निर्माण अद्भुत है ! सब इन लोगों ने स्वयं ही किया है ! धन्य भाग्य ! अब तक देवीपुरीजी का दर्शन नहीं हुआ था। उनका स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण किसी के साथ भेंट नहीं कर रहे थे। मैं थोड़ा अधीर हो रहा था। नेपाली बाबाजी तोतापुरी के बारे में कुछ भी बता नहीं सके।

छह दिन बाद अपराह्न की धर्मचर्चा के लिये पुरीजी पहली बार बाहर आये, तभी उनका दर्शन हुआ। लम्बा-चौड़ा पंजाबी शरीर, वृद्ध, दुबले-पतले और शरीर पर एक काला कम्बल लेपेटे हुए थे। सिर पर बालों की जटा, उन्मना साधुओं की पद्धति पर। और कोई चर्चा नहीं की, केवल योग-वाशिष्ट की कुछ बातें कहकर चले जा रहे थे, तभी मैंने थोड़ा-सा आगे बढ़कर पंजाबी पद्धति से उन्हें नमस्कार करके उन्हें बताया कि मैं वहाँ किस उद्देश्य से आया हूँ। बोले – नहीं जानते, कभी नाम तक नहीं सुना। पर उनमें खूब वैराग्य का भाव देखकर, वह स्थान और भी अच्छा लगने लगा। यह तो बड़ा अच्छा है ! अन्य साधुओं का भी ठहरना और जाना स्वेच्छानुसार था। – "पड़े रहो जब तक मर्जी हो !"

इस दर्शन के अगले दिन रात को नेपाली बाबा तथा एक अन्य संन्यासी शिष्य (जो पूर्वाश्रम में डॉक्टर थे) मेरे पास हाजिर हुए और एक गोपनीय मामले में मेरी सहायता माँगी।

मामला यह था कि जिस जमीन पर वह विशाल आश्रम बना था, उसे एक सरदार जागीरदार ने पुरीजी को मौखिक रूप से दिया था। इसकी न कोई लिखा-पढ़ी हुई थी और न कोई दलील-दस्तावेज ही था। पुरीजी अस्वस्थ थे और वृद्ध भी हो चुके थे। वे सरदारजी भी वृद्ध हो गये थे। अत: इस समय यदि कोई ठोस लिखा-पढ़ी न हो जाय, तो इन दो

वृद्धों में से किसी एक के मरते ही समस्या खड़ी होने की सम्भावना थी। सरदारजी के उत्तराधिकारी लोग उतने श्रद्धालु न थे, हो सकता है कि बाग और जमीन को वापस माँगें। तब क्या होगा? हम लोगों ने पुरीजी को बहुत समझाया है, परन्तु वे कोई भी बात करने को तैयार नहीं हो रहे हैं। कहते हैं – मैं तो मुख की बात से यहाँ हूँ और मुख की एक ही बात से चला जाऊँगा। कहते हैं कि उनके देहान्त से यदि छोड़ देने को कहे, तो तत्काल दौड़कर चले जाना। आप थोड़ा-सा समझाइये। आपकी बात हमने उनसे कही है, वे आपके साथ भी बातें करने को तैयार हैं।''

मैं बोला – ''यह तो भाव की बात है ! मेरे लिये जोर देकर कुछ कहना बिल्कुल भी नहीं हो सकेगा – मेरे पास वह अधिकार नहीं है। परन्तु वे जो कुछ बोलेंगे या पूछेंगे, उसके उत्तर में मैं जो उचित समझूँगा, वह कह दूँगा। और वह आप लोगों के अनुकूल ही होगा, ऐसा भी नहीं कह सकता।''

निश्चित हुआ कि अगले दिन अपराह्न की धर्मचर्चा के बाद समय लेकर मुझे सूचित करेंगे। अगले दिन यथासमय वे मुझे बुलाकर पुरीजी के अपने कोठे में ले गये। दुमंजले पर एक छोटा-सा कमरा – सब मिट्टी का बना। फर्श पर एक चटाई बिछी हुई थी – एक ईंट सिर के लिये तकिये का काम देती है – खूब ठण्डी हवा आ रही थी, स्थान – स्वच्छ, सुरुचिपूर्ण, बड़ा आकर्षक और अद्भुत लगा !

एक लकड़ी की सीढ़ी से होकर कमरे में पहुँचे – उनके दो शिष्य और मैं। अभिवादन के बाद उन डॉक्टर शिष्य ने ही बात शुरू की। उन्होंने पुनः सब कुछ चुपचाप सुना। बोले – यह सब तो तुम पहले ही कह चुके हो, परन्तु यदि तुम इनके सामने मेरा उत्तर सुनना चाहते हो, तो ठीक है ! (मुझसे) अच्छा, आपका क्या कहना है, कहिये।''

मैं – ''जी, क्या कहूँगा, पहले आपकी बात सुने बिना मैं कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ। आपने इन लोगों को जो कुछ कहा है, उसे कृपापूर्वक कहने पर आभारी होऊँगा और उसके बाद मुझे जो उचित लगेगा, वह कहूँगा।''

वे बोले – ''ठीक है, ऐसा ही होगा।'' इसके बाद उन्होंने वे पूर्वोल्लिखित बातें ही कहीं – ''मुख के एक वचन से रहने को दिया था, तो हूँ। यदि सरदारजी या उनके वारिस आज चले जाने को कहें, तो चला जाऊँगा। मान लीजिये उन लोगों को इस जमीन की विशेष जरूरत हो और इसे पाकर उन लोगों को काफी सुविधा हो, तो क्या हम लोगों के लिये इसे छोड़ देना ही उचित नहीं होगा? हम लोग संन्यासी हैं, किसी अन्य जगह चले जायेंगे। आप क्या कहते हैं?''

डॉक्टर शिष्य – ''परन्तु मेहनत करके जो मकान और बाग आदि बनाये गये हैं, इनका क्या कोई मूल्य नहीं है?''

पुरीजी – ''है, तुम लोगों के लिये अवश्य है, तो तुम लोग सब कुछ लेकर अन्यत्र चले जाओगे।''

डॉक्टर शिष्य – ''मकान और बगीचा किस प्रकार उठाकर ले जाया जायेगा?''

पुरीजी – ''तो फिर छोड़कर चले जाना। उन लोगों की जो खुशी, वैसा करना।

डॉक्टर शिष्य – ''परन्तु यदि आप एक बार कह दें, तो सरदारजी एक क्षण में पक्का दस्तावेज बना दे, तो फिर और ....।''

पुरीजी – ''बस, वह कार्य मेरे द्वारा नहीं होगा। उनके मुख की बात से हूँ और एक ही बात से चला जाऊँगा। यहाँ पर यह सब किया ही क्यों? मैंने तो करने को कहा नहीं था, वैसे मना भी नहीं किया था।''

मैं – ''माफ कीजियेगा, आप यदि मना कर देते, तो फिर आज यह सब प्रसंग नहीं उठता। ये लोग भी इतना मेहनत करके मकान और बगीचा नहीं बनाते। इस समय ऐसा कहने से इन लोगों को आघात ही लग रहा है।''

पुरीजी – ''हाँ, यह भूल तो मुझसे हुई है, मैं इसे स्वीकार करता हूँ।''

मैं – ''तो फिर अब ऐसा कोई उपाय कीजिये, जिससे यह रह जाय। आपकी पवित्र स्मृति इन लोगों के लिये अमूल्य है, इसीलिये ये लोग चिन्तित हैं।''

पुरीजी – ''परन्तु मैं तो दानपत्र, दस्तावेज आदि बनवाने के लिये कह नहीं सकूँगा।

मैं – ''नहीं, नहीं, आप क्यों कहेंगे? बल्कि (डॉक्टर की ओर संकेत करके) ये अगर सरदारजी से कहकर यह व्यवस्था करें, तो इस पर आपको कोई आपत्ति तो नहीं होगी? क्योंकि आपके अनुमोदन के विना यह कार्य नहीं हो सकता।''

पुरीजी – ''हाँ, यह बात तो है। ठीक है, मैं सोचकर देखूँगा और दो दिन बाद उत्तर दूँगा।''

यहीं समाप्त हुआ। बाद में उन्होंने सहमति दी थी।

❖ **(क्रमशः)** ❖

ईशावास्योपनिषद् (२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

सरल शब्दों में उपनिषद का क्या अर्थ है? उप = पास, सद् या निषद् = बैठना। संस्कृत में सद् धातु का अर्थ है बैठना। 'गुरु के पास बैठना'। गुरु के पास बैठकर, गुरु के बताये हुये मार्ग से साधना करना। साधना करते-करते एक समय ऐसा आता है जब साधक अनुभव करता है कि वह अपने गुरु या इष्ट के पास बैठा हुआ है। उपनिषद का साधारण अर्थ है – गुरु या इष्ट के पास बैठना। दूसरा – सद् धातु का एक और अर्थ है 'शिथिल हो जाना'। हम सब बन्धनों से बँधे हुये हैं। किन्तु भाग्यवान वही है जो इन बन्धनों का अनुभव कर रहा है और इन बन्धनों से दुखी है। संसार में करोड़ों लोग हैं, किन्तु कितने लोगों को यह पीड़ा होती है कि हाय! हम इस बन्धन में पड़े हुये हैं? उन लोगों को तो उन बन्धनों में ही आनन्द आता है। सारी सुविधायें होने के बाद भी जिनको लगता है कि हम हैं तो बन्धन में ही, किसी-न-किसी ने हमें पकड़े रखा है, हम इस बन्धन से छूट नहीं पा रहे हैं – इस बन्धन का जिनको अनुभव है, जिनको उससे कष्ट है, उस कष्ट को उपनिषद शिथिल कर देता है। उपनिषद हमें अपने इष्ट के पास ले जाकर बैठा देता है, आत्मसाक्षात्कार करा देता है।

हमारा जीवन एक यात्रा है। जिस यात्री के पास यात्रा की सभी सूचनायें हैं, वह सही जगह पर पहुँच जाता है। गीता, उपनिषद, ब्रह्मसूत्र ये ग्रन्थ हमें इस जीवन-यात्रा की सारी सूचनायें देते हैं। हम चाहें या न चाहें यात्रा में चलने को हम सब विवश हैं। जब तक मुक्ति नहीं होगी, तब तक यह यात्रा मानो अनन्त काल तक चलती रहेगी। जन्म-मृत्यु के चक्कर में हम फँसे रहेंगे। किन्तु उपरोक्त ग्रन्थ हमें आवश्यक सूचनायें देते हैं, जिससे हम जन्म-मृत्यु से मुक्ति पाकर अपनी यह यात्रा पूर्ण कर सकें।

उपनिषदों को श्रुति-प्रस्थान कहते हैं। पुराने जमाने में लिखने और छापने की सुविधा नहीं थी। शिष्यगण, इसे गुरुओं से सुना करते थे तथा स्मरण कर लेते थे। इस प्रकार यह ज्ञान परम्परा से आया है। इसलिये इसे श्रुति कहा गया है। इसके द्वारा जीवन के सत्यों को हमारे सामने रखा गया। बाद में जब लिखने की सुविधा हो गयी, तब जिन्होंने इन मंत्रों को देखा था, अनुभव किया था, उन्होंने इन्हें लिख लिया।

उपनिषदों की विषय-वस्तु क्या है? जैसे पहले बताया गया कि उपनिषदों का एक नाम है ब्रह्मविद्या। संसार और व्यक्ति के पीछे परम सत्य क्या है, इसका ब्रह्मविद्या में प्रतिपादन है। जीवन का परम सत्य क्या है और जो संसार हमें दिख रहा है उसका परम सत्य क्या है, यह इसमें वर्णित है। जब जीवन में तूफान आता है, जीवन ढह जाने पर होता है, तब सत्य का अनुभव हमें उससे बचा लेता है। यह ब्रह्मविद्या हमें बताती है कि सत्य क्या है। सत्य को जानने की कला भी इसमें बताई गई है।

हम सत्य को क्यों जानें? क्योंकि मनुष्य मूलत: सत्यस्वरूप ही है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह सत्य को जानना चाहता है। असत्य से हम कभी भी सन्तुष्ट नहीं हो सकते। असत्य से, चालाकी से भले ही संसार-व्यवहार हो जाय, किन्तु असत्य का आधार लेने वाला कोई भी व्यक्ति, असत्य के द्वारा कोई सत्कार्य नहीं कर सकता, चाहे वह कितना भी बड़ा क्यों न हो। क्या वह जनता में घोषणा कर सकता है कि मैंने असत्य के द्वारा ही यह मन्दिर यह अस्पताल बनवाया है? ऐसा कोई भी कभी नहीं कहेगा।

व्यक्ति बाहर कैसा भी अभिनय करे, किन्तु यदि उसने असत्य का आश्रय लिया है, तो वह भीतर-ही-भीतर जानता है कि मैंने असत्य का सहारा लिया है। असत्य से हम कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकते। हर व्यक्ति असत्य को छिपाकर रखना चाहता है। दूसरों की बात तो छोड़िये। घर-परिवार में, समाज में हम कभी असत्य को प्रगट नहीं करना चाहते। हम सदैव सत्य को ही जानना चाहते हैं। छोटा बच्चा हाथ में कुछ छिपाकर आता है, तो माँ जानना चाहती है कि हाथ में उसने क्या छिपा रखा है? हम प्रवचन सुनने के लिये जाते हैं। मान लीजिये प्रवचनकर्त्ता और हमारे बीच परदा लगा हुआ है। हम मात्र प्रवचन सुन सकते हैं, प्रवचनकार को देख नहीं सकते। तो प्रवचन सुनने में हमारा मन नहीं लगेगा। हम झाँककर, इधर-उधर पूछकर जानना चाहेंगे कि कौन बोल रहा है। क्योंकि हमारा स्वभाव सत्य स्वरूप है। इसलिये हम सत्य के स्वरूप को खोलना चाहते हैं। उपनिषद कहता है कि सत्य को जानो, वह तुम्हारा स्वभाव है। क्यों? क्योंकि सत्य को जाने बिना तुम सन्तुष्ट नहीं होंगे। तुम्हारा मन सत्य को जानने के लिये तुम्हें प्रयत्नशील करेगा। किसका सत्य जानें? संसार का सबसे महत्वपूर्ण रहस्य क्या है? अगर आप शान्तचित्त से बैठें और सोचें कि दुनिया कि

कितनी बातें आपको मालूम हैं? आप एक सूची बना लीजिये और विचार कीजिये, जो कुछ भी आप अपने बारे में जानते हैं। जैसे कुछ मामूली बातें – नाम, पदवी, आप क्या हैं, आपका रंग आदि ऐसी कुछ बातें। तब देख लीजिये अपने सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं। जीवन का सबसे बड़ा रहस्य यह है कि स्वयं को जानो। इसलिये सम्पूर्ण वेदान्त घोषणा करता है – आत्मानं विद्धि – अपने आप को जानो। उपनिषद हमको मानव-जीवन का रहस्य बतायेगा। इस मानव व्यक्तित्व के अन्दर कैसा रहस्य है, संसार का अनन्त ज्ञान, आनन्द इसमें कैसे भरा हुआ है, कैसे इसे जाना जाय? उपनिषद इसका हमें समाधान देगा। जीवन का प्रयोजन क्या है? यह उपनिषद हमें बताता है। प्रकृति के दास होकर हमने जन्म लिया, प्रकृति के साथ रहे और प्रकृति की दासता से ही मृत्यु को प्राप्त हुये। क्या इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है? यदि जीवन ऐसा ही है तो व्यर्थ है। किन्तु उपनिषद कहता है, चाहे वह संसारी हो, संन्यासी हो अथवा कोई भी हो। जब तक हम बाहर की विद्या से, संसार के ज्ञान के द्वारा जीवन को समझना चाहेंगे, तब तक हम कभी भी जीवन को नहीं समझ सकेंगे। यह आधा ज्ञान होगा, अपूर्ण ज्ञान होगा, यह जीवन का सत्य है। जीवन का जो दूसरा भीतर का भाग है, उसको समझकर, उसे जानकर हम पूर्ण हो सकेंगे, सन्तुष्ट हो सकेंगें। उपनिषदों के ऋषियों ने इन प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार किया और उन्होंने आँखे बन्द करके भीतर डुबकी लगाई। अन्दर के ज्ञान को जानने की चेष्टा की। उन्होंने देखा कि भीतर का संसार इस बाह्य संसार से भी अतिविशाल है। ऐसे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड इस पिण्ड में समाये हुये हैं। जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, वह पिण्ड में सूक्ष्म रूप में है। आज का विज्ञान भी यह बात बताता है। उसके समझने के बाद ऋषियों को एक नयी दिशा मिली। उसका उद्घाटन उन्होंने किया और उसे हमारे सामने रखा।

दो स्पष्ट बातें हमारे सामने उन्होंने रखी –

१. जो इन्द्रिगम्य ज्ञान तुम्हारे सामने है, इस इन्द्रिगम्य ज्ञान तक ही मत रुक जाओ। इसका उपयोग कर लो। इन्द्रिगम्य ज्ञान और अनुभव को आधार बनाकर विचार करो कि इसके बाद भी कुछ है क्या? इन्द्रियों की बात जानते-जानते हम मन तक पहुँच जाते हैं और जब मन के सम्बन्ध में हम जान लेते हैं, तो हमें और एक दिशा मिलती है।

२. इन्द्रियों की तुलना में मन बहुत दूर तक जा सकता है। इन्द्रियों की सीमा है। किन्तु मन से कल्पना करके हम बहुत दूर तक भ्रमण करके आ जाते हैं। ऋषियों के समझ में यह बात आयी कि इन्द्रियों की तुलना में मन अधिक बलवान है और मन इन्द्रियों से अधिक कुछ जान सकता है। यद्यपि संसार का सारा ज्ञान मन को इन्द्रियों से ही होता है। हम केवल मन से खाना-पीना-सोना नहीं कर सकते, इन्द्रियों से ही कर सकते हैं। मन और इन्द्रियों के संयोग से इसका ज्ञान होता है। जब उन्होंने इन बातों की परीक्षा की, तब उनके समझ में यह बात आयी। मन और इन्द्रियों के ज्ञान का आधार लेकर जब हम इन्द्रियातीत ज्ञान की तरफ जाते हैं, जब साधना से हमें उसकी उपलब्धि होती है, उसे बड़े ही सुन्दर शब्दों में ऋषियों ने हमारे सामने प्रस्तुत किया है। ईशोपनिषद का यह प्रार्थना मन्त्र है। यह मन्त्र सम्पूर्ण ज्ञान का सार है।

पहले हम देखेंगें कि मन्त्र और श्लोक में क्या अन्तर है। ऋषियों के द्वारा लिखे गये – गीता, पुराण, रामायण इत्यादि ये सब श्लोक में हैं। इन श्लोकों की रचना ऋषियों ने की है। विद्वानों ने, ऋषियों ने अपने ज्ञान के आधार पर, व्याकरण भाषा इत्यादि के आधार पर हमारे लिये श्लोकों की रचना की। रामकथा, कृष्णकथा, गीता, श्लोकों के आधार लेकर हमारे सामने आये। ये सब मानवीय रचना है। किन्तु उपनिषदों के मन्त्र मनुष्यों की रचना नहीं है। मन्त्र शाश्वत सत्य हैं। कैसे? जैसे उदाहरण के लिये हम देखें – गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त, बिजली का सिद्धान्त। ये सत्य थे। फेरेडे ने बिजली का शोध किया। न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त को समझा।

उन्होंने किसी नयी वस्तु का निर्माण नहीं किया, जो छिपा हुआ था, उसको जान लिया। यह सत्य पहले भी था, उन्होंने सिर्फ उसको जान लिया। उपनिषदों के सत्यों को ऋषियों ने केवल देखा। वे सत्य अनादि काल से इस विश्व ब्रह्माण्ड के अस्तित्व में हैं। मन शुद्ध होने पर उन्होंने उसे देखा। यह सत्य, जो कण-कण में व्याप्त है, उसका शुद्धचित्त ऋषियों ने अनुभव किया। जिस प्रकार बादल के हट जाने पर सूर्य दिखने लगता है, उसी प्रकार ऋषियों के चित्त शुद्ध होते ही उनके हृदय में सत्य स्फुरित हो गया। ये ही मन्त्र कहलाते हैं।

ईशावास्य का शान्तिमन्त्र है –

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

विश्व का सम्पूर्ण सत्य इस मन्त्र में समाहित है। सत्य के सम्बन्ध में, ज्ञान के सम्बन्ध में यदि अन्तिम कोई बात हो सकती है तो ईशावास्योपनिषद् का यह मन्त्र ही है। यदि इस प्रार्थना को हृदयगंम कर, साधक उसे अपने जीवन में, आचरण में ले ले, तो और कुछ पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहेगी। उसने उपनिषद का सारा ज्ञान प्राप्त कर लिया, ऐसा हो जायेगा। इस मन्त्र में उपनिषदों के ज्ञान का सार समाहित है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

स्वामी विवेकानन्द और शिक्षा का प्राचीन आदर्श

प्रो. (डॉ.) राजलक्ष्मी वर्मा ,

(विवकानन्द विद्यापीठ, रायपुर द्वारा प्रतिवर्ष आयोजित होनेवाले त्रिदिवसीय स्वामी आत्मानन्द व्याख्यानमाला के अन्तर्गत, ८ अक्टूबर २००४ को इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग की प्राध्यापिका डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा ने उपरोक्त विषय पर जो व्याख्यान दिया था, यह उसी का अनुलिखन है। 'विवेक-ज्योति' के लिये इसे सश्रम प्रस्तुत किया है श्री वीरेन्द्र कुमार वर्मा ने। – सं.)

प्रत्येक संस्कृति की एक अपनी विशिष्टता होती है, जो कुछ खास परिस्थितियों का प्रतिफलन हुआ करती है। अँग्रेजों की संस्कृति वहाँ के व्यापारियों द्वारा निर्मित थी, वे व्यापार-प्रधान थे। रोमन संस्कृति योद्धाओं की संस्कृति थी। परन्तु भारतीय संस्कृति यहाँ के चिन्तकों की संस्कृति है। यहाँ के जो ऋषि हैं, मनीषी हैं, चिन्तक हैं, उन्होंने इस संस्कृति को जन्म दिया है, विकसित किया है।

प्राचीन काल में, जब कोई किसी देश पर अधिकार करना चाहता था, तो आक्रमण करके उसकी भूमि पर कब्जा कर लेता था, जैसा कि सिकन्दर ने किया। उसके बाद एक ऐसा समय आया, जब किसी देश पर विजय प्राप्त करने के लिए उसके व्यापार को अपने अधीन किया जाता था और इस तरह ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत के व्यापार पर कब्जा करके यहाँ अपना शासन स्थापित किया। आजकल जब किसी देश को पराजित करना होता है, तो उस देश की संस्कृति पर आक्रमण किया जाता है और यह सबसे खतरनाक आक्रमण है। इस आक्रमण के बाद देश का मेरुदण्ड इतना निर्बल हो जाता है कि वह स्वमेव घुटने टेक देता है।

आज भारत एक विषम परिस्थिति से गुजर रहा है। इस समय भारत की संस्कृति पर आक्रमण हो रहा है। अँग्रेज जिस समय यहाँ आये, उस समय वे हमारे मन और हमारी अन्तरात्मा को अपने अधिकार में नहीं कर सके थे। पर उनके जाने के बाद हम पहले से कहीं अधिक उनके गुलाम हो गए हैं। हम उनकी भाषा बोलते हैं। उनके तरीके से सोचते हैं। उनकी रीतियों और नीतियों को अपनाये हुये हैं और जो कुछ भी हमारे देश का है, उनके प्रति हमारे मन में एक तिरस्कार-दृष्टि है और उस तिरस्कार-दृष्टि का जो सबसे ज्यादा शिकार है, वह है भारत का धर्म और भारत की परम्पराएँ।

आज यदि आप धर्म का नाम ले लेते हैं, तो पिछड़े हुए माने जाते हैं। यदि आपको अँग्रेजी नहीं आती, तो अशिक्षित समझे जाते हैं। लार्ड मैकाले अपनी मृत्यु के अनेक वर्षों के बाद आज हमें पूरी तौर से अपने गिरफ्त में ले चुके हैं। भारतीय संस्कृति को इतनी चोट कभी नहीं पहुँची, जितनी आज पहुँच रही है। सम्भव है कि हम इससे उबर जाएँ और ऐसी आशा भी करनी चाहिए, पर इस आक्रमण का उत्तर हम तभी दे सकेंगे, जब फिर अपनी संस्कृति पर आस्था रखेंगे, अपनी परम्पराओं को समझने का प्रयास करेंगे और अपने पुराने जीवन-मूल्यों का समादर करना सीखेंगे। एक वैज्ञानिक दृष्टि से देखने की चेष्टा करें कि यह जाति हजारों सालों से किसी आदर्श को सहेजकर रखी हुई है, तो हम समझ सकेंगे कि उसके पीछे अवश्य ही कोई बहुत ठोस आधार होंगे।

आज चारों ओर शिक्षा का प्रचार-प्रसार है। गली-कूचों में स्कूल खुले हुए हैं – पब्लिक स्कूल हैं, कान्वेंट स्कूल हैं, इंजीनियरिंग और मेडिकल कॉलेज हैं। हर तरह के इंस्टीट्यूट हैं। इनमें आधुनिक पद्धति के द्वारा युवक-युवतियों को शिक्षा दी जा रही है। हम बाहर जाकर अच्छी नौकरियाँ पा रहे हैं। नासा में जाकर अमेरिका के लिए काम करते हैं। सारी दुनिया हमारी प्रतिभा का लोहा मानती है। पर एक चीज पर विचार करने की जरूरत है कि आज का सामान्य भारतीय चरित्र की दृष्टि से बड़ा निकृष्ट होता जा रहा है। शिक्षा के इतने विस्तार के बाद भी समाज में इतना असन्तोष है, इतनी निराशा है, इतना अवसाद है और इतना भ्रष्टाचार है। भ्रष्टाचार को धीरे-धीरे हम जीवन का अंग मानने लगे हैं। किसी ऑफिस में काम कराना है तो इतना तो देना ही होगा – यह सुनकर अब हम चौकते नहीं। यह एक बहुत गम्भीर चेतावनी है, क्योंकि यदि हम विकृतियों को सहज रूप से स्वीकार कर लेंगे, तो हम उनके खिलाफ लड़ेंगे नहीं। तो इतनी शिक्षा जब चारों ओर फैली हुई है, सब लोग इस कदर आलिम-फाजिल हो गए हैं, इतना पढ़-लिख गए हैं, तो समाज में इतनी कुण्ठाएँ, इतनी निराशा, इतनी विकृतियाँ, इतना चारित्रिक पतन क्यों है? यह एक विचारणीय बात है।

लगता है कि समाज का निर्माण करनेवाली जो शिक्षा है, उसके स्वरूप में ही कहीं कोई बहुत बड़ी कमी है। यह तो ठीक है कि हम आधुनिक दृष्टि, आधुनिक स्तर से शिक्षा दे रहे हैं, पढ़ रहे हैं, आगे बढ़ रहे हैं, परन्तु भीतर से हम छोटे होते जा रहे हैं, बौने होते जा रहे हैं। अत: हमें इससे बचना है। स्वामीजी एक दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न मनीषी थे। उन्हें इन बातों का पूर्वाभास हो गया था। उनमें बड़ा आत्मबल था। आत्मज्ञान था, चीजों को देखने-परखने की सामर्थ्य थी। वे भारत के सांस्कृतिक इतिहास और परम्परा से सुपरिचित थे। अनेक वर्षों के अन्तराल से जो रूढ़ियाँ तथा अन्धविश्वास आ गए थे, उनका उन्होंने विरोध किया था। पर भारतीय संस्कृति

के जो सर्वश्रेष्ठ मूल्य थे, उनकी समझ स्वामीजी को थी। वे राष्ट्र से निरन्तर उन मूल्यों को स्वीकार करने की अपील करते रहे और जीवन में स्थान देने की प्रेरणा देते रहे।

स्वामीजी के द्वारा शिक्षा के बारे में बहुत कुछ कहा गया है। स्वामीजी ने कहा कि मनुष्य के भीतर जो पूर्णता निहित है उसकी अभिव्यक्ति ही शिक्षा का उद्देश्य है – "Education is the manifestation of the perfection already in man"

इस पूर्णता को अभिव्यक्त करने की विधि क्या हो? इस विषय में हमारे प्राचीन शिक्षाविदों ने काफी विचार किया है और तदनुसार हमारी शिक्षा-पद्धति विकसित हुई है। वैदिक काल से लेकर रामायण-महाभारत काल तक शिक्षा के बारे में बहुत कुछ लिखा गया है। उसको पढ़ने के बाद एक स्पष्ट छवि बनती है कि हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धति कैसी हो!

उस पद्धति के द्वारा जिस प्रकार मनुष्य का विकास करने का प्रयत्न किया जाता था, उसे मैं संक्षेप में बता रही हूँ। हमारे यहाँ शिक्षा तब प्रारम्भ होती थी, जब बच्चे की बुद्धि थोड़ी प्रौढ़ हो जाती। अभी जो दो-ढाई बरस के बच्चे को स्कूल भेजने की परिपाटी चल रही है, यह तब नहीं थी। स्मृतिकारों ने बड़े विस्तार से लिखा हैं कि ब्राह्मण बालक के लिए नौ वर्ष की आयु, क्षत्रिय बालक के लिए ग्यारह वर्ष की आयु और वैश्य बालक के लिए बारह वर्ष की आयु – इस आयु में बच्चा इतना बड़ा हो जाता है कि वह कुछ सीख सके और माता-पिता से अलग होकर रह सके।

हमारे यहाँ गुरुकुल की परम्परा थी। घर में ट्यूशन नहीं लगते थे। नौ-ग्यारह या बारह वर्ष की आयु में बच्चों का उपनयन-संस्कार होता था। उपनयन का अर्थ होता है यज्ञोपवीत। उपनयन का शाब्दिक अर्थ है – समीप ले जाना। गुरु के पास जाने को उपनयन कहते थे। हमारे यहाँ शिक्षा से सम्बद्ध तीन संस्कार होते थे। पहला उपनयन, दूसरा वेदारम्भ और तीसरा था समावर्तन। सनातनधर्मी हिन्दुओं के सोलह संस्कारों में से ये तीन संस्कार शिक्षा से सम्बन्धित होते थे। उस समय माता-पिता बच्चे को गुरु के पास लेकर जाते थे कि अब यह विद्याध्ययन के योग्य हो गया है, कृपा करके इसे स्वीकार करें। गुरु उपनयन संस्कार कराते थे और उसकी बड़ी सुन्दर रीति है। इसके बाद वह बालक 'वटु' कहलाता था। उसे यज्ञोपवीत धारण कराया जाता था और एक मूँज नामक घास की बनी मेखला धारण करायी जाती थी। मेखला अन्य घास की, रेशम की और कपास की भी बनती थी। अलग-अलग स्मृतिकारों के अलग-अलग मत हैं।

यज्ञोपवीत में जो तीन सूत्र होते थे, ये उसके द्वारा पूरे किये जानेवाले तीन ऋणों के प्रतीक होते थे। भारतीय दृष्टि में हर व्यक्ति पर तीन कर्ज होते हैं, जिन्हें उसे अपने जीवन में चुकाना चाहिए। उनके बिना उसे मुक्ति का अधिकार नहीं मिलता। तीन ऋणों को चुकाए बिना हमारे यहाँ संन्यास का अधिकार नहीं होता। पहला ऋण था – देव-ऋण, दूसरा था पितृ-ऋण और तीसरा था ऋषि-ऋण। **देव-ऋण** – देवताओं से आपको जो भी वैभव मिला है, उसके प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हुए अग्निहोत्र, यज्ञ आदि के द्वारा देवताओं की प्रीति के लिए जो कार्य किए जाते थे, उनसे व्यक्ति देव-ऋण से उऋण होता था। **पितृ-ऋण** – आपके पूर्वजों द्वारा आपको जो कुछ प्राप्त हुआ है, आपके वंश की जो परम्परा है, जो संस्कृति है, उसको आगे बढ़ाने के लिए विवाह करके परिवार चलाने से इस दूसरे ऋण की निवृत्ति होती थी। ये प्रथम दो ऋण व्यक्तिगत प्रकार के हैं।

परन्तु तीसरा – **ऋषि-ऋण** – सामाजिक था। इसका दायरा बड़ा व्यापक था। आपने अपने गुरुओं से जो विद्याध्ययन किया है, जो संस्कार पाए हैं, उन्हें स्वाध्याय और प्रवचन के द्वारा आपको आगे बढ़ाना है। समावर्तन संस्कार या दीक्षान्त समारोह के अवसर पर गुरु उपदेश देते हुए कहते थे – स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद मत करना –

स्वाध्यायान् न प्रमदितव्यम्।
स्वाध्याय-प्रवचनाभ्याम् न प्रमदितव्यम्।

प्रवचन का अर्थ है उपदेश – आपने जो कुछ पढ़ा है, उसे दूसरों को पढ़ाना। चाणक्य जब मौर्य साम्राज्य के महामंत्री थे, तब भी वे शहर के बाहर अपना गुरुकुल चलाते थे और शिष्यों को पढ़ाया करते थे। हमारे यहाँ बहुत-से आचार्य गुरुकुल चलाया करते थे। तो इस ऋषिऋण का उद्देश्य था अपनी सांस्कृतिक विरासत, अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं, अपनी जाति के द्वारा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जो कुछ सीखा-समझा और अर्जित किया गया है, उसका संरक्षण हो।

इस प्रकार हमारे यहाँ तीन ऋण हुआ करते थे और इन तीनों के प्रतीक के रूप में यज्ञोपवीत धारण किया जाता था। वैसे यज्ञोपवीत की और भी कुछ व्याख्याएँ हैं।

ब्रह्मचारी की कमर में मूँज की जो मेखला बाँधी जाती थी, वह इन्हीं तीन ऋणों का प्रतीक हुआ करती थी। और एक बड़ा सुन्दर-सा संस्कार होता था, जिसमें गुरु पूछते थे – वटु, तुम किसके ब्रह्मचारी हो? और शिष्य उत्तर देता था – भगवन्, मैं आपका ब्रह्मचारी हूँ। तब वे कहते – "मैं तुझे इन्द्र को देता हूँ। तू प्रथमत: अग्नि का ब्रह्मचारी है, उसके बाद तू मेरा ब्रह्मचारी है।" इस प्रकार पहिले उसे देवता को समर्पित करते थे। उसके बाद ऋषि-गुरु शिष्य के हृदय पर हाथ रखते थे और कहते थे – मेरे और तुम्हारे बीच कभी कोई वैमनस्य न हो। मेरी सारी विद्या तुम्हारी है। हम दोनों के बीच सद्भावना बनी रहे। इस प्रकार उपनयन संस्कार सम्पन्न होता था। विद्यार्थी बारह वर्ष तक अपने गुरु के घर में निवास करता था। प्राय: ऋषियों के आश्रम ही गुरुकुल का

रूप ले लिया करते थे। वही विद्यालय होते थे। और बच्चा बारह वर्ष तक गुरुकुल अर्थात् गुरु के परिवार के साथ रहता था। ज्यादातर ऋषि गृहस्थ थे, जैसे याज्ञवल्य और भारद्वाज। बहुत-से गुरु ब्रह्मचारी भी हुआ करते थे।

यह ब्रह्मचारी शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत में ब्रह्म का अर्थ है – परम तत्त्व और दूसरा अर्थ है वेदमंत्र। जो उस परम तत्त्व या वेदों के मर्म को जानने के लिए प्रयत्नशील है, उसे ब्रह्मचारी कहते थे। इसका शारीरिक तथा मानसिक पक्ष गौण है। इसका मुख्य अर्थ आध्यात्मिक है – जो ब्रह्म की चर्या में, ब्रह्म-प्राप्ति की प्रक्रिया में रत है, वही ब्रह्मचारी है।

इसके बाद यह ब्रह्मचारी बालक एक सुव्यवस्थित जीवन व्यतीत करता था, जैसा कि कुछ-कुछ बच्चे इस विवेकानन्द विद्यापीठ स्कूल में करते हैं या फिर रामकृष्ण मिशन द्वारा चलाए जा रहे अनेक स्कूलों में करते हैं। यहाँ यह बहुत सान्त्वनादायी बात है कि इन बदली हुई परिस्थितियों में भी, गुरुकुल की परम्परा का अधिक-से-अधिक समावेश किया जा रहा है। बच्चा पुत्र की भाँति गुरु के पास रहता था, उससे किसी प्रकार का कोई शुल्क नहीं लिया जाता था। उसके रहने का, भोजन का, वस्त्र का, शिक्षा का, स्वास्थ्य का सारा प्रबन्ध गुरु की जिम्मेदारी होती थी। बारह वर्ष तक बच्चा वहीं रहकर, पलकर बड़ा होता था। गुरुकुलों की अपनी एक आय का स्रोत था। उन्हें राजाओं द्वारा और समाज के धनी-मानी व्यक्तियों द्वारा भेंट दी जाती थी। कभी गौवें दी जाती थीं, तो कभी कृषि के लिए जमीन दी जाती थी। आचार्य लोग पुरोहित भी हुआ करते थे और उन्हें प्रचुर दक्षिणा भी मिलती थी, क्योंकि वे समाज के नवयुवकों को शिक्षा देने का कार्य कर रहे हैं, समाज का इतना बड़ा कल्याण कर रहे हैं। नि:शुल्क उन्हें पढ़ा रहे हैं, भरण-पोषण कर रहे हैं, उनका विकास कर रहे हैं, इसलिए समाज उनका ऋणी होता था, उनका उपकार मानता था और इसलिये कभी धन, कभी पशु, कभी भूमि आदि भेंट में दिया करता था।

शिष्यगण प्रात:काल सूर्योदय के पूर्व उठकर, स्नानादि से निवृत होकर सर्वप्रथम देव-ऋण की पूर्ति करने हेतु अग्निहोत्र, संध्या, गायत्री आदि विहित वैदिक कर्म करते। उसके बाद वेदाध्ययन शुरू होता था। तदुपरान्त मध्याह्न भोजन हुआ। शाम को फिर अग्निहोत्र हुआ, फिर थोड़ी देर रात्रि पाठशालाएँ भी हुआ करती थीं। गुरु से जो विशेष संवाद या प्रश्नोत्तर होते, वे रात में अग्निहोत्र के बाद, भोजन के बाद, जब गुरु बैठते, तब होते थे। इसके सिवा शिष्यों को आश्रम की देख-भाल करनी पड़ती थी। गौशाला में कार्य करना होता था। गौओं को चारा और पानी देना होता था। उनकी सफाई करना, सुबह-शाम दूध दुहना। फिर अनेक गुरुकुलों की कृषिभूमि में बच्चे अपने गुरु के मार्ग-दर्शन में खेती करते थे और उसी से आश्रम के अन्न आदि की व्यवस्था होती थी।

प्राचीन वैदिक काल में बच्चों को भिक्षाटन करना पड़ता था – अपने लिए और गुरु के लिए भी। वे भिक्षा माँगकर लाते और गुरु को समर्पित करते। इस भिक्षाटन का एकमात्र प्रयोजन था – अहंकार का विनाश ! अहंकार रखते हुए भिक्षा नहीं माँगी जा सकती। तो यह भिक्षाटन भी एक तरह से उनके आध्यात्मिक शिक्षण का एक हिस्सा हुआ करता था। लेकिन बाद में जब गुरुकुल समृद्ध हो गए। गुरुकुलों को पर्याप्त सम्पति आदि मिलने लगी, तो भिक्षाटन की प्रवृत्ति काफी कम हो गई, परन्तु छात्र सुबह से शाम तक गुरु के आश्रम की देखभाल करता था, उनकी कृषिभूमि में खेती करता था, उनके गोधन की सेवा करता था। गुरुमाता और गुरुपुत्रियों से उसे अपने घर के समान ही स्नेह तथा संरक्षण प्राप्त होता था। उसे कभी ऐसा नहीं लगता था कि वह किसी पराये स्थान में रह रहा है। वह परिवार के एक सदस्य के रूप में रहता था और एक श्रेष्ठ महापुरुष के सान्निध्य में रहकर जितना सीखता था, वह पढ़कर जानने की अपेक्षा बहुत अधिक होता था, क्योंकि प्राचीन काल में गुरुओं के लिए बड़े कठिन मापदण्ड थे। आचार्य के लिये सच्चरित्र और श्रोत्रिय होना आवश्यक था। वेद-वेदांगों का ज्ञान होना आवश्यक था। उनका आचरण बहुत पवित्र होना चाहिए। ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले होना चाहिए। **श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्** शब्द आता है। अर्थात् उनको आत्मतत्त्व का साक्षात ज्ञान हो, ऐसे उच्च सच्चरित्र विद्वानों के साथ, रात-दिन उनको देखते हुए, बालक उनके जीवन से जो शिक्षा ग्रहण करता था, जो कुछ आत्मसात करता था, वह किसी भी पाठ्य-पुस्तक की अपेक्षा उसे कहीं अधिक शिक्षित बनाता था।

गुरुकुलों के पाठ्यक्रम और पढ़ाने की पद्धति पर विचार करने का समय नहीं है। पर जैसे आजकल महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में अनेक विभाग होते हैं, वैसे ही उनमें अनेक 'स्थान' हुआ करते थे – यथा अग्नि-स्थान, इन्द्र-स्थान, प्रजापति-स्थान। उनके तहत पाठ्यक्रम थे। कुछ विज्ञान और तकनीकी विषय थे, जिनके साथ इन्हें वर्गीकृत कर दिया गया था। वहाँ विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ विद्वान् हुआ करते थे। एक और बड़ी बात थी, इस कदर बौद्धिक ईमानदारी थी कि यदि गुरु को लगता कि मैं इस विषय का ज्ञाता नहीं हूँ, तो वह शिष्य को किसी अन्य ऐसे गुरु के पास भेज देता, जो उस विषय के विशेषज्ञ होते थे। इतनी बौद्धिक ईमानदारी होती थी, क्योंकि शिष्य तो पुत्र के समान है। उसे अच्छी-से-अच्छी शिक्षा मिलनी चाहिए और वह यदि मैं नहीं दे सकता, तो मुझसे श्रेष्ठ गुरु से उसे मिलनी चाहिए। एक कुलपति हुआ करते थे, जिसे आज वाइस-चांसलर कहते हैं। जो दस हजार विद्यार्थियों के रहने तथा खाने-पीने का

प्रबन्ध कर सकता था, उसको कुलपति कहते थे। कुछ गुरुकुल विशिष्ट भी होते थे, जैसे परशुरामजी का विशेष रूप से सैन्य विद्या का गुरुकुल था। ऐसे ही अन्य गुरुकुलों की भी अपनी विशिष्टताएँ हुआ करती थीं। भारद्वाज ऋषि प्रथम कुलपति थे। प्रयाग में उनका आश्रम है और जहाँ इलाहाबाद विश्वविद्यालय बना हुआ है, वहीं उनका प्राचीन गुरुकुल था और विश्वविद्यालय का इतना बड़ा क्षेत्र है, तो अनुमान है कि वहाँ करीब दस हजार विद्यार्थी रहा करते होंगे।

यहाँ पर दो-तीन बातें जो ध्यान देने की हैं। पहली यह कि वहाँ केवल पुस्तकीय विद्या नहीं दी जाती थी, अपने आचार्य के साथ, अपने से वरिष्ट छात्रों के साथ रह करके एक चरित्र का विकास होता था, एक चारित्रिक मूल्य छात्र सहज रूप से आत्मसात करता था, जो उसके विकास में सहायक होते थे यह एक बड़ी विशिष्ट बात थी। दूसरी बात यह कि उसे समाज में रहना आ जाता था। क्योंकि गुरुकुल में वह बहुत-से विद्यार्थियों के साथ रहता था। सबके दुख-सुख में शामिल होता था, सहभागिता होती थी।

तीसरी बात जो स्वामीजी कहा करते थे – "Nerves of steel and muscles of Iron" – "लोहे की मांसपेशियाँ और इस्पात के स्नायु।" हर विद्यार्थी वहाँ जो शारीरिक श्रम करता था, वह उसे शारीरिक दृष्टि से भी समर्थ बनाता था।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखिए, तो भारत एक कृषिप्रधान देश था। वहाँ बच्चे को शुरू से ही खेती करना आ जाता था। हमारा दूसरा बड़ा व्यवसाय गो-पालन था। गुरुकुल में उसे गो-सेवा का अभ्यास हो जाता था। यदि वह जीवन में कुछ न कर सके, तो खेती तो कर ही लेगा, गोधन भी रख ही लेगा। आजीविका के लिए उसे भटकना नहीं पड़ेगा।

आज का विद्यार्थी भिन्न परिवेश में रहता है। वह भौतिक साधनों से, सुख-विलास की समाग्रियों से सम्पन्न समाज में रहता है। उसके सामने जितने प्रलोभन हैं, उनके बीच उसके लिए चित्त को एकाग्र करना बड़ा कठिन होता है। स्वामीजी कहते हैं कि बिना एकाग्रता के कोई विद्या आयत्त नहीं हो सकती। और वर्तमान परिवेश में जब आप चित्त को एकाग्र करने की चेष्टा करते हैं, तो आपके मन में इतने विचार उठने लगते हैं कि आपके लिए किसी विषय पर उसे एकाग्र कर पाना असम्भव हो जाता है। इसीलिये स्वामीजी ने कहा – विद्यार्थी को ध्यान का अभ्यास करना चाहिये।

हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धति से जिस परिवेश में शिक्षा दी जाती थी – हिमालय की तराई में, सुदूर वन के बीच, किसी नदी के किनारे, दो नदियों के संगम पर, पर्वतों की घाटी में, वहाँ चारों ओर प्रकृति का साम्राज्य था। छात्र की मन:स्थिति में कोई प्रलोभन या व्यवधान नहीं आता था। प्रकृति के बीच रहकर प्रकृति के प्रति उसमें एक सहज प्रेम उत्पन्न होता था।

आज जिस पर्यावरण-प्रेम के लिए इतनी शिक्षाएँ दी जा रही हैं, वह भारत में बहुत सहज रूप से विकसित हुआ है और सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में दिखाई देता है कि वहाँ पर प्रकृति जीवित चरित्र की भाँति चित्रित हुई है।

व्यक्ति जब बचपन से ही नदी, पहाड़ों, वनों और बादलों के बीच बड़ा होता था, जब एक प्रदूषणरहित भव्य एवं दिव्य परिवेश में रहता था, तो उसका विद्याध्ययन कितना निर्बाध रहा करता होगा! प्रकृति के साहचर्य से चित्त में बड़ी उदात्त भावनाएँ उदित होती हैं। गुरुकुल के लिए ऐसे परिवेश को चुना जाना अपने आप में बड़ी सूझ-बूझ भरी बात है।

प्राचीन शिक्षा-पद्धति में हमें एक और बहुत बड़ी विशेषता मिलती है और वह है – 'गुरु-शिष्य-सम्बन्ध'। इस विषय में अथर्ववेद में कहा गया है कि ब्रह्मचारी जब गुरु के पास आता है, तो जैसे माता अपने बच्चे को अपने गर्भ में धारण करके उसे जीवन देती है, उसका पोषण करती है, वैसे ही गुरु भी उसका उपनयन कराकर उसे अपने गर्भ में धारण करके उसे दुबारा एक नया जन्म देता है, इसीलिए उसे द्विज कहते हैं। द्विज अर्थात् जिसका दुबारा जन्म हो। बच्चे के मन में भी यह बात है कि मेरा शरीर मेरे माता-पिता का दिया हुआ है, लेकिन मेरे व्यक्तित्व का निर्माता तो ये मेरे गुरु हैं।

गुरु और शिष्य के बीच में पिता-पुत्र सा सम्बन्ध होता था। बच्चे के मन में गुरु के प्रति असीम श्रद्धा होती थी और गुरु का उस पर वात्सल्य होता था। इस घनिष्ठ सम्बन्ध के द्वारा, अपने सामने एक ज्वलन्त आदर्श देखकर, अप्रत्यक्ष रूप से उसके चरित्र का विकास होता था। इसीलिए स्वामीजी ने कहा – "मेरे ख्याल से शिक्षा का अर्थ है – गुरुगृहवास। गुरुगृह में रहना यही शिक्षा का वास्तविक रूप है, क्योंकि जब आप सभी गुणों के एक जाज्वल्यमान उदाहरण के साथ रहते हैं, तब शिक्षा सहज हो जाती है। देख करके, साहचर्य से सीखना अधिक आसान होता है। हमारे छात्रों के विकास में एक चीज बड़ी महत्वपूर्ण होती थी, जिसे स्वामीजी बार-बार रेखांकित करते हैं और वह है – 'तप'। अर्थात् विपरीत परिस्थितियों में समान भाव से रहने का अभ्यास करना। यह तत्त्व आज के विद्यार्थी या आज की शिक्षा-पद्धति में नहीं रह गया है। स्वामीजी बारम्बार तप को, श्रद्धा को और ब्रह्मचर्य को रेखांकित करते हैं और बताते हैं कि विद्यार्थी में विद्या के लिए तृष्णा होनी चाहिये। ये चार तत्त्व प्राचीन शिक्षा-पद्धति की मूलभूत अपेक्षाएँ थीं। जिस समय गुरु किसी शिष्य को स्वीकार करते थे, उस समय इस बात का ध्यान रखते थे कि इस विद्यार्थी में सीखने की लगन कितनी है। इसमें ज्ञान के लिए प्यास कितनी है। और कई बार तो वे छात्र को महीनों तक गुरुकुल में रखकर देखते, उसका पर्यवेक्षण करते और जब उनको विश्वास हो जाता था कि इस विद्यार्थी में ज्ञान के

लिए पिपासा है, यह श्रद्धा-सम्पन्न है, तब वे उसे वटु या ब्रह्मचारी के रूप में स्वीकार करते थे।

स्वामीजी ने भी अपनी शैक्षणिक नीति में प्राचीन शिक्षा-पद्धति के जितने गुण हैं, उन्हें शत-प्रतिशत ग्रहण किया है। वे ब्रह्मचर्य पर बहुत बल देते हैं। उन दिनों ब्रह्मचर्य-साधन अपेक्षाकृत आसान होता था, क्योंकि गुरुकुल प्रकृति के क्रोड़ में, निर्जन वनान्तरों में हुआ करते थे। वहाँ शहरी वातावरण जितने प्रलोभन भी नहीं होते थे। शहरी वातावरण में तब भी बड़े प्रलोभन थे। इसीलिए बच्चों को बचपन से नगरों से दूर एक ऐसे वातावरण में रखते थे, जो उसके आत्मिक तथा चारित्रिक विकास के लिए श्रेयस्कर हो। स्वामीजी स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ब्रह्मचर्य के बिना तो विद्याध्ययन नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्य क्या है? मनसा वाचा कर्मणा – मन, वाणी तथा कर्म से शुद्ध होना तथा शुद्ध आचरण करना ही ब्रह्मचर्य है। शुद्ध सात्त्विक आचरण ही ब्रह्मचर्य है।

स्वामीजी कहते हैं – धर्म शिक्षा का मेरुदण्ड है। धर्म का भारतीय जीवन में बड़ा महत्त्व है। धर्म वह पुरुषार्थ है, जो जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाता है। अर्थ तथा काम पुरुषार्थों को श्रेयोन्मुखी बनाता है। और मोक्ष या आत्म-साक्षात्कार जीवन का परम लक्ष्य है। इस मोक्ष में कोई घबरानेवाली बात नहीं है। ऐसा नहीं है कि सब कुछ त्यागकर चल देना पड़े। इसमें छूटता कुछ नहीं, मुक्त व्यक्ति की संसार को देखने की दृष्टि मात्र बदल जाती है। अज्ञान से मुक्ति ही मोक्ष है। इस परम पुरुषार्थ की ओर ले जानेवाला धर्म ही इस देश में प्रमुख है। बाकी देशों में धर्म संस्कृति का एक हिस्सा होता है, पर भारत में उलटा है, यहाँ संस्कृति धर्म का एक अंश है। मनुष्य के व्यवहार में, परमार्थ में, उसके व्यक्तित्व के हर स्तर पर जो कुछ श्रेष्ठ है, उन मूल्यों का समाहार धर्म है।

तो गुरुकुल में रहकर बालक को धर्म की शिक्षा मिलती थी। हमारे यहाँ धर्म दो तरह का माना गया है – साधारण और विशिष्ट धर्म। साधारण धर्म मनुष्य मात्र के लिए करणीय होता है और विशिष्ट धर्म तो वर्णाश्रम के अनुसार क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि के लिए विभाजित थे। मनु (६/९२) कहते हैं–

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचम्-इन्द्रिय-निग्रहः।
धीर्विद्याः सत्यम्-अक्रोधः दशकं धर्म-लक्षणम्।।

ये नैतिक मूल्य ही साधारण धर्म हैं, जो मनुष्य मात्र के लिए, प्रत्येक वर्ण के लिए करणीय है। इस धर्म की शिक्षा बालक को मिलती थी। इस धर्म की दृष्टि से, इस धर्म के साथ उसका विकास होता था। इससे वह एक अच्छा नागरिक बनता था, एक अच्छा व्यक्ति बनता था।

एक चीज और ध्यान में रखने की है और वह है हमारी समष्टि-प्रधान संस्कृति। हम केवल अपने स्तर पर, केवल अपने लिये जीवित नहीं रहते हैं। भारतीय संस्कृति में लोक-कल्याण, लोक-संग्रह की बात कही गयी है। यह क्या है? व्यक्ति को ब्रह्मज्ञानी होने के बाद भी लोक-कल्याण हेतु सतत चेष्टाशील होना है। गीता यही आदर्श रखती है। यही समष्टि-प्रधान संस्कृति गुरुकुल में पोषित होती थी। सभी जातियों के, सभी वर्णों के बालक वहाँ रहते थे। राजा का पुत्र भी रहता था और रंक का भी। सामान्य कृषक का भी पुत्र रहता था और नगरसेठ का भी। सब एक साथ, आपस में मिलकर रहते थे। प्रत्येक व्यक्ति प्रारम्भ से ही जान लेता था कि उसे दूसरे व्यक्ति के साथ कैसा व्यवहार करना है, समाज में कैसा व्यवहार करना है। उसका उत्तरदायित्व क्या है? यह जो कर्तव्य-बोध है, इसे ठीक-ठीक निरूपित करना बड़ा कठिन है। बताना कठिन है कि कर्तव्य क्या है? क्योंकि प्रत्येक देश और प्रत्येक जाति के कर्तव्य अलग-अलग हो सकते हैं। पर वे कहते हैं – जो भी कार्य हमारे व्यक्तित्व के उदात्त पक्ष को समृद्ध करने में सहायक है, वही हमारा कर्तव्य है। एक समष्टि-प्रधान संस्कृति में व्यक्ति को कैसे रहना है? कैसे उसे लोक-कल्याण के प्रति, आत्म-कल्याण के प्रति सजग होना है? यह विद्यार्थी को सिखाया जाता था।

इन सारे तत्त्वों को स्वामीजी बार-बार रेखांकित करते हैं। स्वामीजी की विशेषता यह है कि उन्होंने बदली हुई आधुनिक परिस्थितियों में शिक्षा के उन पाश्चात्य मूल्यों के साथ, जो आज के युग में हमारे लिए कुछ आवश्यक हैं, प्राचीन भारतीय शिक्षा के आदर्श का समन्वय किया।

स्वामीजी कहते थे – मैं दो चीजों का समन्वय चाहता हूँ – क्षात्रबल और ब्रह्मतेज। क्षात्रबल - अर्थात् शारीरिक सामर्थ्य और ब्रह्मतेज अर्थात् विद्या। आजकल जो बच्चे पढ़ने में अच्छे हैं, वे अच्छे खिलाड़ी नहीं होते। जो अच्छे खिलाड़ी हैं, उनका प्राय: पढ़ने से लेना-देना नहीं होता। यह द्वैही भाव हमारी प्राचीन पद्धति में नहीं था। वहाँ पर बुद्धि के विकास के लिए भी परिश्रम होता था और शारीरिक शक्ति विकास के लिए भी। शारीरिक श्रम का क्या महत्व है? यह भी उस गुरुकुल की शिक्षा-पद्धति के प्रतिदिन की दिनचर्या में सम्मिलित था। फिर तीनों ऋणों की पूर्ति किस तरह करनी है? किस तरह देव-ऋण चुकाना है? किस तरह से पितृ-ऋण चुकाना है? किस तरह से ऋषि-ऋण चुकाना है? उसकी शिक्षा भी छात्रों को बचपन से ही दी जाती थी।

अब हमारी शिक्षा बड़ी यांत्रिक-सी हो गई है। कहावत है – सब धान बाइस पसेरी। एक निश्चित पाठ्यक्रम है। वही हर व्यक्ति को पढ़ना है। मैं अपने यहाँ दर्शन पढ़ाती हूँ। मैं प्राय: उन लोगों को दर्शन पढ़ाती हूँ, जिन्हें दर्शन का 'द' भी समझ में नहीं आता। लेकिन चूँकि पाठ्यक्रम में है, इसलिए उनको दर्शन पढ़ाना है। जितने भी लोग कालिदास पढ़ते है, उनमें साहित्यिक चेतना न के बराबर होती है, तथापि उनको

पढ़ाना पड़ता है। ये गुरुओं के लिए बड़ी कष्टप्रद बात है, शिक्षक लोग यह जानते होंगे। और हमारे यहाँ परम्परा थी कि अपात्र को विद्या नहीं देनी है। **दो चीजें अपात्र को न देने का विधान है – एक पुत्री और दूसरी विद्या।** अपात्र के पास जाकर पुत्री भी कष्ट पाती है और विद्या भी। विद्या ऋषि से प्रार्थना करती है कि मुझे अपात्र को मत देना। आजकल पात्रता का विचार नहीं है – किस छात्र में कौन-सी सहज वृत्ति है। वह अच्छा चित्रकार हो सकता है, अच्छा गणितज्ञ हो सकता है, अच्छा अध्यापक हो सकता है या वह अच्छा शिल्पकार भी हो सकता है। परन्तु हम यह नहीं देखते। हमने एक सुनिश्चित पद्धति बना दी है और सबको वही पढ़ना है। इससे हमारे विद्यार्थी कई बार अपनी क्षमता के अनुरूप प्रगति नहीं कर पाते, क्योंकि वे विपरीत दिशा में ले जाए जा रहे हैं। आज की शिक्षा की यह एक बहुत बड़ी कमी है, जो गुरुकुल-पद्धति में बिल्कुल नहीं थी। वहाँ पर जो सैन्य-विद्या का अध्ययन करना चाहता था, वह उसी का अध्ययन करता था। जो वाणिज्य पढ़ना चाहता था, वह वाणिज्य पढ़ता था। जो कृषि पढ़ना चाहता था, वह कृषि पढ़ता था। और सबके विशेषज्ञ विद्वान् वहाँ हुआ करते थे। जो आचार्य थे, वे एक से अधिक शाखाओं के भी विद्वान् हुआ करते थे।

आखिर में एक बात आपके सामने रखनी है, जो बड़ी महत्त्वपूर्ण है और वह यह कि उस प्रणाली में सबको धर्म-शिक्षा अनिवार्य थी। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी वर्ण का हो, किसी भी व्यवसाय में जाना चाहता हो, चाहे वह मूर्तिकला पढ़ता हो या वाणिज्य, आयुर्वेद पढ़ता हो या विधि अथवा आणुविक्षिकी। हमारे यहाँ विविध प्रकार की अट्ठाइस विद्याएँ पढ़ाई जाती थीं, जिसमें बहुत-सी तकनीकी विद्याएँ भी थी। लेकिन सबको समान रूप से वेदों और वेदांगों का अध्ययन करना पड़ता था। साथ में वह जिस व्यवसाय में जाना चाहता था, वह भी उसे पढ़ाया जाता था। तो उसके व्यक्तित्व के आध्यात्मिक या उदात्त पक्ष की शिक्षा भी उसे अवश्य दी जाती थी। ये कुछ ऐसी विशिष्टताएँ थीं, जो व्यक्ति के चरित्र को पूर्ण रूप से विकसित करती थीं। इससे उसके नैतिक गुणों, शारीरिक क्षमताओं, आध्यात्मिक क्षमताओं और एक सर्वांगपूर्ण सन्तुलित व्यक्तित्व का निर्माण होता था। और अन्त में होता था – समावर्तन संस्कार।

उन दिनों भी स्कूल-ड्रेस हुआ करती थी। विभिन्न संकायों के छात्रों के लिये अलग-अलग रंग के वस्त्र हुआ करते थे। वस्त्र का रंग देखकर आप समझ सकते थे कि यह कला-संकाय का छात्र है या विज्ञान-संकाय का। फिर वर्णों की भी पहचान थी। ब्राह्मण सूती अधोवस्त्र पहनता था। क्षत्रिय रेशमी अधोवस्त्र भी पहन सकता था। और क्षत्रिय रूरू-मृग का चर्म धारण करता था। ब्राह्मण कृष्ण-मृग का चर्म धारण करता था। वैश्य भेड़ का चर्म धारण करता था। यह बड़ा ही रुचिकर विषय है। आयुर्वेद पढ़नेवाले का पुनः उपनयन होता था। और राजा और गुरु दोनों की अनुमति लेकर ही वह चिकित्सा कर सकता था। फर्जी डॉक्टर नहीं होते थे।

बारह वर्ष तक विद्यार्थी दो वस्त्र पहनता था – एक अधो वस्त्र, एक उत्तरीय। पैरों में जूते नहीं पहनता था। छाते का उपयोग नहीं कर सकता था। किसी तरह का आभूषण धारण नहीं करता था। तेल, साबुन, उबटन आदि का प्रयोग निषिद्ध था। एक ऐसा अत्यन्त संयमित जीवन था, जिसमें इन्द्रियों को खेलने का मौका नहीं मिलता था। **(शेष अगले पृष्ठ पर)**

दोहा-दशक

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

देह-गेह परमेश ने सबको किया प्रदान।
किन्तु चार दीवार को कहते लोग मकान।।

जल-बिन मछली प्राण दे, जल कर मरे पतंग।
जल जीवन, जल मृत्यु है, अद्भुत संग-प्रसंग।।

सुख-दुख दोनों में सदा, जिसकी वृत्ति समान।
वही परम् मतिमान है, वही परम धृतिमान।।

संगति भली न नीच की, मिलता अपयश पंक।
लंका जाने से लगा, सिय को घोर कलंक।।

अकस्मात् मत रीझिये, सुनकर मीठी बात।
कालनेमि की बात थी, हनूमान पर घात।।

बढ़ी वासना भोग की, बढ़ा बहुत व्यभिचार।
जिसके कारण विश्व में, प्रेम बहुत बीमार।।

जिसके सिर पर है सदा, परमेश्वर का हाथ।।
वह अनाथ भी लोक में, रहता समुद-सनाथ।।

योग न संयम से रहे, करे भोग ही भोग।
उस मानव-तन में रमें, सदा रोग ही रोग।।

मतवादों ने भर दिया, सब में भेद-विषाद।
मानवता के शत्रु हैं, मजहब औ' मतवाद।।

सभी चाहते हैं, सदा स्वयं काम-सुख-भोग।
सबके सुख में हों सुखी, ऐसे बिरले लोग।।

हिन्दी सहकार संस्थान, ३६२ सिविल लाइंस, उन्नाव, (उ०प्र०)

बचपन से एक ऐसी दिनचर्या बना दी जाती थी कि व्यक्ति का सारा ध्यान विद्यार्जन में ही लगा रहे। कैसा भोजन, कैसा वस्त्र, कैसी दिनचर्या ! बारह वर्षों तक वह अत्यन्त पवित्र, संयमी और तपोनिष्ठ जीवन व्यतीत करता था।

तब समावर्तन होता था। उस दिन से उसको गृहस्थाश्रम के लिए मुक्त किया जाता था। उस दिन उसे रेशमी वस्त्र पहनाए जाते थे। पहले उसे सुगन्धित जल से स्नान कराया जाता था। इसलिए उसको स्नातक कहते थे। आजकल उसे ग्रेजुएट कहा जाता है। ऐसा मानते थे कि इस बच्चे ने बारह वर्षों तक इतना तपोमय जीवन बिताया है, तो इसके अतुल तेज का सामना सूर्य भी नहीं कर सकता। सूर्य ऐसे स्नातक को देखकर के शर्म से अपना मुँह न छिपा ले, इसलिए सुबह से उसे एक कमरे में बन्द कर दिया जाता था। उसके बाद उसको सुगन्धित द्रव्यों का उबटन होता था, सुगन्धित जल से स्नान कराते थे। इसके बाद रेशमी वस्त्र धारण कराये जाते थे। छत्र दिया जाता था। कानों में कुण्डल और गले में रत्न धारण कराए जाते थे। एक बड़ा भव्य समावर्तन संस्कार कराया जाता था, उसमें उन छात्रों के माता-पिता भी आमंत्रित किए जाते थे। वैसे ही जैसे आजकल पासिंग-आउट परेड होती है। उसमें माता-पिता के साथ रिश्तेदार आते थे। गुरुकुल के सारे अन्तेवासी रहते थे। आसपास के गुरुकुलों के ऋषिगण भी बुलाए जाते थे। उसमें राजा के प्रतिनिधि भी आते थे। आजकल विश्वविद्यालयों के जैसा दीक्षान्त समारोह में होता है, वैसा ही समावर्तन संस्कार होता था। समावर्तन अर्थात् लौटना। छात्र अपने घर वापस लौटता था। और घरवाले उसको बड़े आदर से अपने घर ले जाते थे।

उस समय गुरु-दक्षिणा दी जाती थी। छात्रों की आर्थिक स्थिति के हिसाब से गुरु दक्षिणा माँगते थे। पर कभी-कभी गुरु क्रोधित भी हो जाते थे। एक कथा मिलती है कौत्स नाम के एक बड़े ही मेधावी व्यक्ति थे। वे वरतन्तु नामक आचार्य के शिष्य थे। उन्होंने कहा – गुरुदेव, मैं क्या गुरु-दक्षिणा अर्पित करूँ? गुरु ने कहा – "नहीं, तुमने इतनी निष्ठा से तपोमय जीवन बिताया है, जो कुछ मैंने पढ़ाया, उसको तुमने ग्रहण किया। यही बहुत बड़ी गुरु-दक्षिणा है। शिष्य योग्य निकले, इससे बढ़कर प्रसन्नता गुरु के लिए दूसरी नहीं हो सकती। मुझे तुमसे कोई गुरु-दक्षिणा नहीं चाहिए।" अब शिष्य के मन में क्या आया कि वह जिद पकड़कर बैठ गया – मुझे गुरु-दक्षिणा देनी है। गुरु ने दो-तीन बार समझाया और आखिर में उन्हें क्रोध आ गया, बोले – जाओ, चौदह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ ले आओ ! कौत्स बड़े गरीब थे। इतना धन वे कहाँ से लाते। महाराज रघु राज्य कर रहे थे। वे उनके पास गये। रघु भी यज्ञ में सब कुछ दान कर चुके थे। तब उन्होंने कुबेर से माँगकर चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ कौत्स को दान में दीं। लेकिन यह एक अपवाद है। प्राय: ऐसा नहीं होता था और जो भी शिष्य की सामर्थ्य होती थी, वही अन्त में गुरु-दक्षिणा स्वरूप अर्पित की जाती थी और गुरु-शिष्य सम्बन्ध यहीं समाप्त नहीं हो जाता था – आजीवन चलता था। बीच-बीच में गुरु के शिष्य उनके पास अपनी सामर्थ्य के अनुसार उपहार लेकर आते थे।

समावर्तन-संस्कार के समय जो अन्तिम उपदेश दिया जाता था, वह बड़ा प्रसिद्ध है। उसे तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षा-वल्ली में दिया गया है। उसमें बहुत-सी बातें हैं –

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव,
आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव। १/११/२

यहाँ से शुरू करके गुरु गृहस्थाश्रम में प्रवेश की आज्ञा देते हैं। उसमें से एक बात मुझे बड़ी अच्छी लगती है। गुरु कहते हैं – तुम इतने वर्ष मेरे साथ रहे। मैं भी मनुष्य हूँ। मुझमें कुछ कमियाँ जरूर रही होंगी। मुझमें जो भी अनिंदनीय था, उसे ही ग्रहण करना। मेरे भीतर जो भी निंदनीय था, उसे कभी ग्रहण मत करना। मेरे जो अच्छे कर्म थे, तुम उन्हीं का अनुसरण करना; मेरे बुरे कार्यों का अनुसरण मत करना –

यानि अनवद्यानि कर्माणि।
तानि सेवितव्यानि। न इतराणि।।
यानि अस्माकं सुचरितानि।
तानि सेवितव्यानि। न इतराणि।। १/११/२

गुरु इतनी बड़ी कल्याण-कामना अपने शिष्य के लिए करता है। और यह आत्म-स्वीकृति गुरु को इतने उदात्त स्थान पर खड़ा कर देती है कि शिष्य आजीवन उनके प्रति श्रद्धावनत रहता है।

इस शिक्षा पद्धति में अच्छी बातें हैं – गुरु-शिष्य-सम्बन्ध, तप, आत्म-संयम, चित्त की एकाग्रता, ज्ञान की पिपासा और लगन। स्वामीजी एक बात और कहते है – शिक्षा को एक ढर्रे का नहीं होना चाहिये, क्योंकि हर व्यक्ति की अलग-अलग प्रवृत्तियाँ होती हैं, हर व्यक्ति की अलग-अलग सामर्थ्य होती है। इसलिए कभी भी उसमें एकरूपता नहीं होनी चाहिए। जिसके जीवन के जिस क्षेत्र में जाने की पात्रता है, उसे उस क्षेत्र में जाने का अवसर मिलना चाहिए। हमारे यहाँ यह जो यंत्रवत् शिक्षा है, उसकी जगह हमें स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित मनुष्य-निर्माण करने की, चरित्र विकास की शिक्षा देनी होगी। इस बात की शिक्षा देनी होगी कि व्यक्ति समाज में कैसे रहे? परिवार के साथ कैसे रहे? उनका दायित्व क्या है? अपने प्रति आत्म-साक्षात्कार का जो उत्तरदायित्व है, उसकी पूर्ति कैसे करें? यह सब आज की बदली हुई परिस्थितियों में, वर्तमान शिक्षा पद्धति में जितना भी सम्भव हो समायोजित कर लेना चाहिए। ❑

राजा से पत्र-व्यवहार, परिवार की सेवा

स्वामी विदेहात्मानन्द

(अब तक आपने पढ़ा कि कैसे १८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द जी ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उस समय वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश राजा अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास पहुँचे और वहाँ से अमेरिका जाने की तैयारी करने लगे। बाद में उनकी अमेरिका-यात्रा और सम्पूर्ण जीवन-कार्य में राजस्थान और विशेषकर खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान तथा योगदान रहा – क्रमश: इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

इसके बाद स्वामीजी गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, गोवा, कर्नाटक, केरल होते हुए मद्रास पहुँचे। यद्यपि स्वामीजी ने पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत का भ्रमण करते समय गुरुभाइयों के साथ भी पत्र-व्यवहार बन्द कर दिया था, पर अपवाद स्वरूप यदा-कदा कोई पत्र लिख भी देते थे। इस दौरान उनका बीच-बीच में राजा अजीतसिंह के साथ पत्र-व्यवहार होता रहा। अक्तूबर १८९१ ई. में खेतड़ी से प्रस्थान करने के उपरान्त आगामी लगभग एक वर्ष के दौरान सम्भवत: अजमेर तथा गुजरात के कुछ स्थानों से उन्होंने राजा को कई पत्र लिखे थे, परन्तु वे सारे पत्र अब लुप्त हो चुके हैं। १८९२ ई. के जुलाई से सितम्बर तक स्वामीजी ने मुम्बई में निवास किया था। ऐसे संकेत मिलते हैं कि इस दौरान उन्होंने मुम्बई से कई पत्र लिखे थे। उनकी ऐसी आदत थी कि बहुधा एक बार पत्र लिखने बैठते, तो कई पत्र लिख डालते थे। इनमें से एक – वराहनगर मठ के गुरुभाइयों के नाम लिखे हुए पत्र का उल्लेख मात्र प्राप्त होता है। २६ अक्तूबर, १८९२ को सारदानन्द जी ने एक पत्र में लिखा है – "कुछ दिन पूर्व स्वामी नरेन्द्र का समाचार मिला है। उन्होंने मुम्बई से पत्र लिखा है। स्वास्थ्य ठीक है। शीघ्र ही वहाँ से प्रस्थान करेंगे। कहाँ जायेंगे – इस विषय में कुछ लिखा नहीं है।"[१] और दूसरा खेतड़ी के पण्डित शंकरलाल को लिखा गया था, जो उनकी ग्रन्थावली में मुद्रित है। अनुमान किया जा सकता है कि यहाँ से उन्होंने राजा अजीतसिंह को भी पत्र लिखा होगा, परन्तु अनेक पत्रों के समान ही वह भी खो चुका है।

वाकयात रजिस्टर में २७ अक्तूबर १८९१ तक स्वामीजी के खेतड़ी में ठहरने का उल्लेख है। सम्भव है कि उन्होंने उसके दो-चार दिन बाद ही वहाँ से प्रस्थान किया हो और कुछ दिन जयपुर में बिताकर १३ नवम्बर को अजमेर पहुँचे हों। भावनगर (गुजरात) के वझेशंकर गौरीशंकर ने ३१ मार्च १८९३ के दिन एक पत्र लिखकर खेतड़ी-नरेश को उन्हें पुत्रलाभ के लिये बधाई दी थी। उसके प्रासंगिक अंश का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है – "मुझे व्यक्तिगत रूप से महाराज के प्रति सम्मान व्यक्ति करने का सौभाग्य नहीं मिल सका है, तथापि मेरे पूज्य पिता (गुरु) आदरणीय स्वामीजी श्री सच्चिदानन्दजी को लिखे हुए आपके गम्भीर तथा विद्वत्तापूर्ण पत्रों को पढ़कर मैं अतीव आनन्द का बोध किया करता था।"[२] इससे ज्ञात होता है कि स्वामीजी ने गुजरात-भ्रमण के दौरान राजा से पत्र-व्यवहार बनाये रखा था। इसी प्रसंग में खेतड़ी के मुंशी जगमोहनलाल के नाम लिखा मुम्बई के बैरिस्टर रामदास छबीलदास के ६ मार्च १८९३ का एक पत्रांश भी उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं – "आपका पत्र मिलने के बाद से मुझे स्वामी सच्चिदानन्द से कोई पत्र नहीं मिला है। आपके निर्देशानुसार वह पत्र मैंने अपने पास रखा है।"[३] इस पत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि पुत्र-जन्म के समय तक खेतड़ी में स्वामीजी का अन्तिम पता मुम्बई के बैरिस्टर रामदास छबीलदास का ही था और उनके पास से स्वामीजी अक्तूबर १९९२ में विदा ले चुके थे। इन दो पत्रांशों से सहज ही अनुमान होता है कि स्वामीजी ने खेतड़ी छोड़ने के बाद से लगभग एक वर्ष तक राजाजी के साथ निरन्तर पत्र-व्यवहार द्वारा सम्पर्क बनाये रखा था, परन्तु उस काल के अधिकांश पत्र या तो खो चुके हैं या फिर सदा-सर्वदा के लिये नष्ट हो चुके हैं।

खेतड़ी छोड़ने के लगभग वर्ष भर बाद मुम्बई से खेतड़ी के पण्डित शंकरलाल को लिखित स्वामीजी के पत्र से कई तरह की जानकारियाँ तथा उनका तत्कालीन मनोभाव प्रकट होता है। वह पत्र इस प्रकार है –

बम्बई, २० सितम्बर १८९२

प्रिय पण्डित जी महाराज,

आपका कृपापत्र मुझे यथासमय मिला। न जाने क्यों मेरी

१. बँगला ग्रन्थ स्वामी सारदानन्द (जीवन-कथा) ब्रह्मचारी प्रकाशचन्द्र, बसुमती साहित्य मन्दिर, कोलकाता, १९३६, पृ. ८८

२. खेतड़ी पेपर्स – १९९९ ३. वही, (ऐसा प्रतीत होता है सितम्बर ९२ से फरवरी ९३ तक गोवा, कर्नाटक, केरल, कन्याकुमारी तक के भ्रमण के दौरान स्वामीजी ने राजा को कोई पत्र नहीं लिखा।)

इतनी अधिक प्रशंसा हो रही है। ईसा मसीह का कहना है – 'एक ईश्वर को छोड़ कोई भला नहीं।' बाकी सब उसके हाथ की कठपुतली हैं। मुझ जैसे अनधिकारी की नहीं, अपितु 'महतो महीयान्' परम धाम में विराजमान ईश्वर की अथवा अधिकारी पुरुषों की जयजयकार हो। यह दास भाड़े के मोल का भी नहीं है और विशेषत: एक फकीर तो किसी प्रकार की प्रशंसा पाने का अधिकारी ही नहीं। क्या केवल अपना कर्तव्य पालन करनेवाले सेवक की आप प्रशंसा करेंगे?

आशा है आप सपरिवार कुशलपूर्वक होंगे। पण्डित सुन्दरलाल जी और मेरे अध्यापक जी ने अनुग्रहपूर्वक मुझे स्मरण किया है, इसके लिये मैं उनके प्रति अपनी चिर कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

अब आपसे एक दूसरी बात कहना चाहता हूँ –

हिन्दू मस्तिष्क का झुकाव सदा निगमनीय अथवा साधारण सत्य से विशेष सत्य की ओर रहा है, न कि आगमनिक अथवा विशेष सत्य से साधारण सत्य की ओर। अपने सारे दर्शनों में हम सदैव किसी एक साधारण सिद्धान्त को लेकर बाल की खाल निकालने की प्रवृति पाते हैं, फिर चाहे वह सिद्धान्त पूर्णतया भ्रमात्मक एवं बालकोचित ही क्यों न हो। इन साधारण सिद्धान्तों में कहाँ तक तथ्य है, इस बात के खोजने या जानने की किसी में उत्कण्ठा नहीं। स्वतंत्र विचार का हमारे यहाँ अभाव-सा रहा है। यही कारण है कि हमारे यहाँ पर्यवेक्षण (Observation) और सामान्यीकरण (Generalisation) – विशेष-विशेष सत्यों से एक साधारण सिद्धान्त में उपस्थित होना) प्रक्रिया के फलस्वरूप परिणामत: निर्मित होनेवाले विज्ञानों की इतनी कमी है। ऐसा क्यों हुआ? इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि यहाँ की जलवायु की भयंकर गर्मी हमें क्रियाशील होने की अपेक्षा आराम से बैठकर विचार करने के लिए बाध्य करती है और दूसरे यह कि पुरोहित और ब्राह्मण दूर देशों की यात्रा या समुद्र-यात्रा न करते थे। दूर देश की यात्रा जल या थल से करनेवाले यहाँ थे तो अवश्य, पर वे प्राय: व्यापारी थे – अर्थात् वे लोग जिनका बुद्धि-विकास पुरोहितों के अत्याचारों के कारण एवं स्वयं के धन-लोभ के कारण रुद्ध हो गया था। अत: उनके पर्यवेक्षणों से मानवीय-ज्ञान का विस्तार तो न हो पाया, उल्टे उसकी अवनति ही हुई, क्योंकि उनके निरीक्षण इतने दोषयुक्त थे तथा विभिन्न देशों के उनके वर्णन इतने अतिशयोक्तिपूर्ण और काल्पनिक एवं विकृत थे कि उनके द्वारा असलियत तक पहुँचना असम्भव था।

इसलिए **हम लोगों को यात्रा करनी चाहिये और विदेशों में जाना चाहिए।** यदि हम वास्तव में अपने को एक सुसंगठित राष्ट्र के रूप में देखना चाहते हैं, तो हमें यह जानना चाहिए कि दूसरे देशों में किस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था चल रही है और साथ ही उनके मनोभाव जानने के लिये हमें उन्मुक्त हृदय से दूसरे राष्ट्रों के साथ विचार-विनिमय करते रहना चाहिए। **सबसे बड़ी बात तो यह है कि हमें गरीबों पर अत्याचार करना एकदम बन्द कर देना चाहिए।** किस हास्यापद दशा को हम पहुँच गये हैं! यदि कोई भंगी हमारे पास भंगी के रूप में आता है, तो छुतही बीमारी की तरह हम उसके स्पर्श से दूर भागते हैं। परन्तु जब उसके सिर पर एक कटोरा पानी डालकर कोई पादरी प्रार्थना के रूप में कुछ गुनगुना देता है और जब उसे पहनने को एक कोट मिल जाता है – वह कितना ही फटा-पुराना क्यों न हो – तब चाहे वह किसी कट्टर-से-कट्टर हिन्दू के कमरे के भीतर पहुँच जाय, उसके लिए कहीं रोक-टोक नहीं, ऐसा कोई नहीं जो उससे सप्रेम हाथ मिलाकर बैठने के लिए उसे कुर्सी न दे! इससे अधिक विडम्बना की बात क्या हो सकती है? आइये, देखिये तो सही, दक्षिण भारत में पादरी लोग क्या गजब कर रहे हैं। ये लोग नीच जाति के लोगों को लाखों की संख्या में ईसाई बना रहे है। ट्रावंकोर (वर्तमान केरल राज्य) में, जहाँ पुरोहितों के अत्याचार भारतवर्ष भर में सबसे अधिक हैं, जहाँ जमीन के हर टुकड़े के मालिक ब्राह्मण हैं और जहाँ राजघरानों की महिलाएँ तक ब्राह्मणों की उपपत्नी बनकर रहने में गौरव मानती हैं, वहाँ लगभग चौथाई जनसंख्या ईसाई हो गयी है! मैं उन बेचारों को क्यों दोष दूँ? हे भगवन्, कब एक मनुष्य दूसरे से भाई-चारे का बर्ताव करना सीखेगा?

आपका ही, **विवेकानन्द**[४]

सितम्बर १८९२ के बाद फरवरी ९३ तक स्वामीजी का खेतड़ी के मित्रों से पत्र-व्यवहार बन्द रहा।

परिवार के सेवक : राजा अजीतसिंह

स्वामी विवेकानन्द जी के जीवन में खेतड़ी-नरेश अजीतसिंह की भूमिका को समझने के लिये हमें उनकी जीवनी का एक पुराना पृष्ठ पलटना होगा। घटना वर्तमान कालक्रम से ५-६ वर्ष पूर्व की है। तब उनके गुरुदेव श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर में निवास करते थे। स्वामीजी के मन में प्रबल वैराग्य की झंझा चल रही थी। वे संन्यास लेकर कहीं तपस्या में डूब जाना चाहते थे। परन्तु पिता का देहान्त हो जाने पर रिश्तेदारों ने उनके पैतृक सम्पत्ति पर दावा ठोक दिया था, घर में फाँकेबाजी चल रही थी और ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते माता तथा छोटे भाइयों के भरण-पोषण का दायित्व उन्हीं के कन्धों पर था। अत: परिवार के लिये अन्न का प्रबन्ध हो जाने पर वे निश्चिन्त होकर त्याग-पथ अपना सकते थे। उन्होंने सोचा कि जगदम्बा काली श्रीरामकृष्ण की प्रार्थना सुना करती हैं, अत: क्यों न उन्हीं से कहकर अपने परिवार का अभाव दूर करा लूँ।

४. विवेकानन्द साहित्य, सं. १९६३, खण्ड १, पृ. ३८४-८५

एक दिन वे दक्षिणेश्वर आकर श्रीरामकृष्ण से इस विषय में अनुरोध करने लगे। श्रीरामकृष्ण बोले – "तू जगदम्बा को नहीं मानता, इसीलिये तुझे इतना कष्ट है। आज मंगलवार है, आज रात काली-मन्दिर में जाकर माँ को प्रणाम करके तू जो कुछ माँगेगा, वही माँ तुझे देंगी।"

स्वामीजी के ही शब्दों में – "अब मुझे दृढ़ विश्वास हुआ, जब ठाकुर ने वैसा कहा है तो अवश्य ही प्रार्थना करते ही दु:ख का अवसान होगा। प्रबल उत्कण्ठा से रात्रि की प्रतीक्षा करने लगा। रात आयी। एक प्रहर बीत जाने पर ठाकुर ने मुझे मन्दिर में जाने के लिए कहा। भीतर जाते हुए नशे-जैसा भाव होने लगा, पैर लड़खड़ाने लगे और मैं माँ को सचमुच देख सकूँगा और उनके श्रीमुख की वाणी सुन सकूँगा – इस प्रकार के स्थिर विश्वास से मन अन्य विषयों को भूलकर एकाग्र और तन्मय होकर उसी बात को सोचने लगा। मन्दिर में उपस्थित होकर देखा, माँ सचमुच ही चिन्मयी, सचमुच ही जीवित प्रतिमा और अनन्त प्रेम तथा सौन्दर्य की आधाररूपिणी हैं। भक्ति और प्रेम से हृदय उछलने लगा। मैं विह्वल होकर बारम्बार प्रणाम करते हुए कहने लगा, 'माँ, मुझे विवेक दो, वैराग्य दो, ज्ञान दो, भक्ति दो; जिससे मैं तुम्हारा अबाध दर्शन नित्य प्राप्त कर सकूँ – वैसा कर दो।' शान्ति से हृदय प्लावित हो गया। संसार-प्रपंच बिलकुल विलुप्त होकर केवल माँ ही हृदय को पूर्ण करती हुई विराजमान रहीं।

"ठाकुर के पास लौटकर आते ही उन्होंने पूछा, 'क्यों रे, माँ से गृहस्थी का अभाव दूर करने की प्रार्थना की है न?' उनके प्रश्न से चौंककर मैंने उत्तर दिया, 'नहीं महाराज, मैं तो भूल गया था, अब क्या करूँ?' उन्होंने कहा, 'जा जा, फिर जाकर प्रार्थना कर आ'। मैं पुन: मन्दिर की ओर चला और माँ के सामने उपस्थित होकर पुन: मुग्ध हो गया और सब कुछ भूलकर बारम्बार प्रणाम करते हुए ज्ञान और भक्ति-लाभ के लिए प्रार्थना करके लौट आया। हँसते हुए ठाकुर ने पूछा, 'क्यों रे, अबकी बार तो कह आया न?' फिर मैं चौंक उठा और बोला, 'नहीं महाराज, माँ को देखते ही एक दैवी शक्ति के प्रभाव से सब बातें भूलकर केवल ज्ञान-भक्ति लाभ की बात ही कही है। अब क्या होगा?' ठाकुर ने कहा, 'यह क्या रे, अपने को सम्हाल कर वैसी प्रार्थना क्यों नहीं कर सका? हो सके तो और एक बार जाकर उन बातों को कह आ। जल्दी जा।' मैं फिर चला, परन्तु मन्दिर में प्रवेश करते ही लज्जा ने हृदय को व्याप्त कर लिया। मैंने सोचा, यह कैसी तुच्छ बात मैं जगत् जननी को कहने आया! ठाकुर कहते हैं, 'राजा की प्रसन्नता प्राप्त करके उनसे कद्दू, कुम्हड़ा माँगना' यह – भी वैसी ही मूर्खता की बात है। मेरी भी ऐसी ही हीन बुद्धि हुई है। लज्जा से प्रणाम करते हुए मैंने पुन: कहा, 'मैं और कुछ नहीं माँगता माँ! केवल ज्ञान और भक्ति दो।' मन्दिर के बाहर आकर मन में ऐसा भाव आया कि यह निश्चय ही ठाकुर की लीला है, नहीं तो तीन-तीन बार मैं माँ के पास आकर कुछ भी नहीं कह सका। इसके बाद मैंने उनका चरण पकड़कर कहा, 'आपने ही मुझे भुला दिया था। अब आप ही को कहना होगा, ताकि मेरे परिजनों को अन्न-वस्त्र का कष्ट न हो।' उन्होंने कहा, 'अरे, मैं तो वैसी प्रार्थना किसी के लिए कभी नहीं कर सका। मेरे मुख से तो वैसी बातें निकलती ही नहीं हैं, तुझे कह दिया कि माँ से जो कुछ माँगेगा, वही पायेगा। तू माँग ही नहीं सका, तेरे भाग्य में संसार-सुख नहीं है तो मैं क्या करूँ?' मैंने कहा, 'ऐसा नहीं हो सकता महाराज, आपको मेरे लिए वह बात कहनी पड़ेगी। मुझे दृढ़ विश्वास है कि आपके कहने से ही उन लोगों के सारे अभावों की पूर्ति हो जायेगी।' इस प्रकार जब मैंने उन्हें किसी तरह नहीं छोड़ा, तब उन्होंने कहा, 'अच्छा जा, उनको साधारण अन्न-वस्त्र का अभाव नहीं रहेगा।' "[५]

श्रीरामकृष्ण के इस आश्वासन पर स्वामीजी किस प्रकार अपनी माता तथा भाई-बहनों को संकट की अवस्था में ही छोड़कर निकल पड़े थे, उसकी करुण-कहानी उन्हीं के शब्दों में – "मुझ पर तो और भी भीषण दुर्भाग्य छा गया था! एक ओर थे मेरी माता और भ्रातागण। मेरे पिताजी का देहावसान हो गया और हम लोग (मठवासी) असहाय, निर्धन रह गये, इतने निर्धन कि हमेशा फाकाकशी चलती रहती थी। कुटुम्ब की एकमात्र आशा मैं था, जो थोड़ा कमाकर कुछ सहायता पहुँचा सकता। मैं दो दुनियाओं की सन्धि पर खड़ा था। एक ओर था मेरी माता और भाइयों के भूखों मरने का दृश्य, और दूसरी ओर थे इन महान् पुरुष के विचार, जिनसे – मेरा खयाल था – भारत का ही नहीं, सारे विश्व का कल्याण हो सकता है और इसलिए जिनका प्रचार करना, जिन्हें कार्यान्वित करना अनिवार्य था। इस तरह मेरे मन में महीनों यह संघर्ष चलता रहा। कभी तो मैं छह-छह, सात-सात दिन और रात निरन्तर प्रार्थना करता रहता। कैसी वेदना थी वह! मानो मैं जीवित ही नरक में था। कुटुम्ब के नैसर्गिक बन्धन और मोह मुझे अपनी ओर खींच रहे थे – मेरा बाल्य हृदय भला कैसे अपने इतने सगों का दर्द देखते रहता? फिर दूसरी ओर कोई सहानुभूति करनेवाला भी नहीं था! बालक की कल्पनाओं से सहानुभूति करता भी कौन, ऐसी कल्पनाओं से औरों को कष्ट ही होता? मुझसे भला किसकी सहानुभूति होती? ...

"मेरा विश्वास था कि इन विचारों से भारत अधिक ज्ञानोद्भासित होगा तथा भारत के सिवा और भी अनेक देशों और जातियों का उससे कल्याण हो सकेगा। तभी यह बोध हुआ कि इन विचारों का नाश होने देने के बदले तो कहीं

५. श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग, स्वामी सारदानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर, खण्ड ३, सं. १९६३, पृ, १८०-८२

यह श्रेयस्कर है कि कुछ मुट्ठी भर लोग स्वयं अपने को मिटाते रहें ! क्या बिगड़ जाएगा यदि एक माँ न रही, यदि दो भाई मर गये तो? यह तो बलिदान है, यह तो करना ही होगा। **बिना बलिदान के कोई भी महत् कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।** कलेजे को बाहर निकालना होगा और निकालकर पूजा की वेदी पर उसे लहूलुहान चढ़ा देना होगा। तभी कुछ महान् की उपलब्धि होती है। और भी कोई दूसरा मार्ग है क्या? अभी तक तो किसी को मिला नहीं। मैं तुम सब लोगों से यही प्रश्न करता हूँ। कितना मूल्य चुकाना पड़ा है किसी सफल कार्य का? कैसी वेदना – कैसी पीड़ा ! प्रत्येक सफल क्रिया के पीछे कैसी भयानक यातना की कहानी है !''[६]

उपरोक्त विवरण से सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि स्वामीजी ने किस मन:स्थिति में गृहत्याग किया था। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें आश्वासन दिया था कि उनके परिवार को साधारण अन्न-वस्त्र का अभाव न होगा और इसी पर विश्वास करके के वे 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' भारत-परिदर्शन को निकल पड़े थे। जगदम्बा ने उनके परिवार के भरण-पोषण तथा देखभाल की व्यवस्था की थी खेतड़ी-नरेश राजा अजीतसिंह के माध्यम से। उसका विवरण इस प्रकार है –

१८९१ के अगस्त से अक्तूबर तक स्वामीजी ने जब खेतड़ी में निवास किया था, तभी किसी दिन राजा अजीतसिंह ने उनके परिवार के बारे में पूछताछ करके सब कुछ जान लिया था, परन्तु चूँकि स्वामीजी उन दिनों अज्ञात रूप से भ्रमण कर रहे थे और नहीं चाहते थे कि उनके परिचित लोग उनकी गतिविधियों को जानें और तंग करें, अत: सम्भवत: उन्होंने ही राजा साहब को निर्देश दिया था कि उनके खेतड़ी छोड़ने के बाद ही वे उनके परिवार की वर्तमान अवस्था को जानने हेतु वराहनगर मठ से पत्र-व्यवहार करें। १८९१ ई. के अक्तूबर के अन्त में स्वामीजी ने खेतड़ी से विदा ली। तदुपरान्त राजा ने वराहनगर मठ को पत्र लिखकर स्वामीजी के परिवार के विषय में जानकारी माँगी और क्रमश: उनके छोटे भाई महेन्द्रनाथ दत्त से पत्र-व्यवहार करके घर का हाल-चाल लेने लगे और नियमित रूप से आर्थिक सहायता भेजने लगे। इस विषय में महेन्द्रनाथ दत्त लिखते हैं –

''बात-बात में राजा साहब को ज्ञात हुआ कि स्वामीजी की माता तथा अन्य सम्बन्धी हैं। राजा साहब उन लोगों के बारे में सारी बातें पाने हेतु उत्कण्ठित हो उठे। उन्होंने शरत् महाराज, योगेन महाराज तथा सान्याल महाशय को स्वामीजी के घर का समाचार भेजने के लिए एक पत्र भेजा और इस बात को किसी के समक्ष प्रकट करने से मना किया। तब से वे जगमोहन लाल के मारफत प्रति माह १०० रुपये स्वामीजी की माता को प्रणामी के रूप में भिजवाने लगे। राजा साहब जब तक जीवित रहे, तब तक वे नियमित रूप से रुपये भिजवा देते थे। राजा साहब ने अपने पुत्र के उत्सव के उपलक्ष्य में भी प्रणामी के रूप में स्वामीजी की माता को १०० रुपये भिजवाये थे। लन्दन-निवास के समय बातचीत के दौरान एक बार स्वामीजी ने कहा था, 'उस समय राखाल से कहा था कि खेतड़ी के राजा मठ के लिए प्रति माह १०० रुपये देने को राजी हुए हैं, उसे ले ले। तब राखाल घोर वैराग्य दिखाने लगा, लिया नहीं, अभाव में मरता रहा। इसीलिए मैं राखाल के ऊपर नाराज हो गया था।'

''राजा साहब नरेन्द्रनाथ के प्रति इतने अनुरक्त हुए थे कि वे अपने हाथ से प्रतिमास दो पत्र वर्तमान लेखक को लिखा करते थे। उनमें उनके राजा या उच्च पदस्थ होने का कोई भाव नहीं रहता था; पत्रों में केवल यही भाव व्यक्त होता कि वे स्वामीजी के एक अनुगत भक्त मात्र हैं। मुन्शी जगमोहन लाल स्वयं भी आत्मीयता-बोध से सर्वदा ही पत्र लिखा करते थे और प्रत्येक व्यक्ति का नाम लेकर समाचार लेते।''[७]

दुर्भाग्यवश महाराजा तथा उनके मुन्शी द्वारा लिखे कोई भी पत्र अब उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु सौभाग्य से उन पत्रों के उत्तर में स्वामीजी के भ्राता महेन्द्रनाथ दत्त, भूपेन्द्रनाथ दत्त, गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द आदि द्वारा लिखे हुए अनेक पत्र उपलब्ध हैं और उनसे पत्रों की विषय-वस्तु का अनुमान लगाया जा सकता है। १८९१ तथा १८९२ का कोई भी पत्र-व्यवहार अभी तक प्रकाश में नहीं आ सका है, परन्तु १८९३ ई. में महेन्द्रनाथ आदि के लिखे अंग्रेजी में अनेक पत्र उपलब्ध हैं, जिनसे उस काल के स्वामीजी के परिवार, वराहनगर मठ के गुरुभाइयों तथा स्वामीजी की गतिविधियों के विषय में काफी जानकारी मिलती है, अत: हम उनमें से अधिकांश का हिन्दी अनुवाद यथास्थान प्रस्तुत करेंगे।

वराहनगर मठ के अधिकांश गुरुभाई तीर्थ-भ्रमण तथा तपस्या कर रहे थे, एकमात्र अपवाद थे स्वामी रामकृष्णानन्द। सम्भवत: उन्होंने अथवा स्वामी सारदानन्द ने राजा के पहले पत्र का उत्तर दिया होगा। उस काल से शुरुआती प्राय: एक वर्ष के पत्र लुप्त हो चुके हैं और जो प्राप्त हैं, उनमें पहला महेन्द्रनाथ दत्त द्वारा २ फरवरी १८९३ ई. को लिखा हुआ है। ये पत्र हम आगे यथास्थान उद्धृत करेंगे।

❖ (क्रमश:) ❖

६. मेरा जीवन तथा ध्येय, (अमेरिका के पॅसादेना में प्रदत्त व्याख्यान से) विवेकानन्द साहित्य, सं. १९६३, खण्ड १०, पृ. १०-११

७. स्वामीजीर जीवनेर घटनावली (बंगला), भाग २, पृ. १७९-१८१
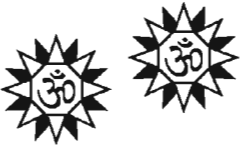
वाराणसी में स्वामी विवेकानन्द (२)
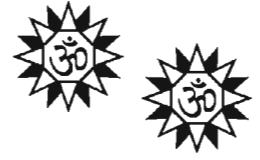
स्वामी सदाशिवानन्द

(स्वामीजी १९०२ ई. में जब अन्तिम बार वाराणसी आये, उस समय हरिनाथ ओदेदार ने साथ रहकर उनकी सेवा की थी। हरिनाथ बाद में संन्यास लेकर स्वामी सदाशिवानन्द हुए। १९२२-२३ ई. में स्वामीजी के छोटे भाई श्री महेन्द्रनाथ दत्त ने उनसे सुनकर इन स्मृतियों को लिपिबद्ध कर लिया था और बाद में 'काशीधामे स्वामी विवेकानन्द' नामक बँगला पुस्तक के रूप में और अंग्रेजी की 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ में प्रकाशित हुई, उन्हीं का हिन्दी अनुवाद 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

एक दिन अपराह्न में एक खाट पर स्वामीजी और दूसरी पर स्वामी शिवानन्द बैठे हुए थे। कमरे में कुछ अन्य सज्जन भी बैठे हुए थे। दोनों के बीच व्यंग-विनोद चल रहा था। एक छोटे बालक के समान स्वामीजी का मुखमण्डल हास्य से परिपूर्ण था, नेत्रों से भी मानो हँसी फूटकर निकल रही थी। स्वामीजी ने शिवानन्दजी से कहा – "तो महापुरुष, क्या कहते हैं आप, मैं दैत्यगुरु शुक्राचार्य हूँ? ठीक है न?" यह कहकर वे और भी जोरों से हँसने और मुख-भंगिमा बनाने लगे। स्वामीजी की एक आँख की एक स्नायु खराब हो जाने के कारण उनकी दृष्टि क्षीण हो गयी थी, इसीलिये उनकी एक नेत्रवाले शुक्राचार्य से तुलना की जा रही थी। और स्वामीजी ने भी विदेशों में धर्मप्रचार करके विदेशियों को शिष्य बनाया था। इसीलिये एक नेत्रवाले शुक्राचार्य के साथ अपनी तुलना करके तरह-तरह से व्यंग-विनोद कर रहे थे। स्वामी शिवानन्द भी बीच-बीच में – "अवश्य, ऐसा ही तो है!" कह-कहकर हँस रहे थे। वहाँ सहज हास-परिहास का परिवेश था और वह हँसी संक्रामक होकर हम सभी को आनन्दविभोर कर रही थी।

आम तौर पर लोग गन्दे-सन्दे वस्त्रों, रूखे-सूखे केशों, उदासीन उतरे हुए चेहरों और दुबले-पतले शरीर को ही धर्म का पर्याय समझते हैं। ऐसा व्यक्ति हँसी-मुस्कान से रहित, हमेशा मुहर्रमी चेहरा बनाये रखेगा और सब कुछ से निरपेक्ष रहकर महान् शास्त्रों से बड़ी-बड़ी बातें झाड़ता रहेगा। परन्तु स्वामीजी इस बात पर बल दिया करते थे कि व्यक्ति के हास्य-विनोदमय स्वभाव का भी महत्त्व कम नहीं था। प्राय: वे कहा करते – "Wit is the sign of intelligence," (हाजिर-जबाबी बुद्धि के विकास का लक्षण है) और अपनी व्यंग-विनोदपूर्ण बातों के द्वारा वे इसे सिद्ध भी किया करते थे। स्वामीजी का हास-परिहास देखकर मैं विस्मय-विमुग्ध था और जब मैं उन्हें प्रणाम करने लगा तो वे जोरों से ठहाके लगाते हुए बोले – "ओह, तो तुम (वैष्णव) हो, जरा सच्चे रामानुजी जैसा प्रणाम करके दिखाओ।" बाकी दिन वे कहा करते – "रहने दो भाई, इसकी कोई जरूरत नहीं है।" परन्तु आज वे पूर्णत: एक अलग ही मन:स्थिति में थे। शिवानन्दजी ने बीच में टोका – "नहीं स्वामीजी, उसे वातरोग है, उसके जोड़ अकड़े हुए हैं – इस प्रकार साष्टांग प्रणाम करने से बच्चे को कष्ट होगा।" इस पर स्वामीजी ने उत्तर दिया – "वह कुछ भी नहीं है। वह सब ठीक हो जायेगा। आओ भाई, तुम निश्चिन्त भाव से प्रणाम करो।" मैंने वैसा ही किया। यही मेरे हृदय की इच्छा थी और उनकी नाराजगी के भय के कारण अन्य किसी समय वह पूरी नहीं हो पाती।

उसी परिवेश में एक ब्रह्मचारी ने आकर सूचित किया कि केदारनाथ मन्दिर के महन्तजी मिलने आये हैं। तत्काल स्वामीजी का मुखमण्डल गम्भीर हो गया और व्यक्तित्व की भव्यता व्यक्त हो उठी। महन्तजी एक अन्य कमरे में थे। स्वामीजी स्वामी शिवानन्द के साथ उसमें प्रविष्ट हुए और हम लोगों ने भी उनका अनुसरण किया। केदारनाथ मन्दिर के महन्तजी ने सम्मानपूर्वक 'नमो नारायणाय' कहकर स्वामीजी का अभिवादन किया और संस्कृत में एक स्तव की आवृत्ति की। वे किसी दक्षिण भारतीय भाषा में बोल रहे थे और एक सिंहली संन्यासी उसका अंग्रेजी में अनुवाद कर रहे थे। स्वामीजी भी उसका यथोचित उत्तर देने लगे। महन्तजी बोले – "आप साक्षात् शिव हैं, आप जीवों के कल्याणार्थ अवतीर्ण हुए हैं। अमेरिका तथा यूरोप में आपने जैसा कार्य किया है और जैसी शक्ति का परिचय दिया है, वैसा अब तक कोई भी नहीं कर सका है। आपने पाश्चात्य लोगों के समक्ष हिन्दू धर्म के गौरव में जिस प्रकार सैकड़ों-गुनी वृद्धि की है, उससे प्रत्येक हिन्दू और प्रत्येक संन्यासी अपने को गौरवान्वित महसूस करता है। वैदिक धर्म के गूढ़ रहस्यों की आपने जैसी धारणा और सुचारु रूप से व्याख्या की है, उसके लिये हम संन्यासीगण तथा सम्पूर्ण हिन्दू समाज आपका विशेष ऋणी है।"

श्वेत केशोंवाले अस्सी वर्ष की आयु और तदनुरूप ज्ञान तथा आध्यात्मिक उपलब्धियों वाले महन्तजी द्वारा ऐसी स्तुति

सुनकर स्वामीजी भावविभोर हो गये और विनयपूर्वक बोले – ''महाराज, मैं ज्यादा कुछ तो नहीं कर सका हूँ। जो थोड़ा-सा कार्य हुआ है, वह ईश्वर की कृपा तथा इच्छा से हुआ है। अपनी महिमा उन्होंने स्वयं ही प्रकट की है। यह शरीर तो केवल एक यंत्र मात्र है। आप वयोवृद्ध संन्यासी और महाज्ञानी हैं। आप लोगों का आशीर्वाद तथा कृपा सिर पर रहे, तो ऐसे बहुत-से कार्य सम्पन्न हो सकते हैं। और आप तो भगवान केदारनाथ के महन्त हैं, आप स्वयं ही शिवजी के अवतार हैं, मैं तो एक साधारण मनुष्य मात्र हूँ।''

महन्तजी ने और भी कहा – ''आप जब सेतुबन्ध रामेश्वर से उत्तर की ओर यात्रा कर रहे थे, तब वहाँ के हमारे प्रधान मठ से आपको लाने के लिये एक पालकी तथा कुछ लोगों के साथ संन्यासियों को भेजा गया था; परन्तु आपका दर्शन करनेवालों की बहुलता के कारण आप शारीरिक क्लान्ति का अनुभव कर रहे थे, अत: उस समय आप हमारा निमंत्रण स्वीकार नहीं कर सके। हमारे मठ के साधु-महात्मा इस कारण विशेष दुखी हैं। उन लोगों ने तार देकर मुझे सूचित किया है कि अपने काशी के मठ में आपका विशेष रूप से सत्कार तथा अभिनन्दन किया जाय। हमारी आपसे यही विनती है कि एक दिन आप अपनी टोली के साथ केदार के मठ में भिक्षा ग्रहण करें।''

वयोवृद्ध महन्तजी का सविनय अनुरोध सुनकर स्वामीजी एक बालक के समान अत्यन्त आनन्दित हुए और मधुर स्वर में बोले – ''महाराज, आदेश देने या किसी आदमी से सन्देश भेज देने से ही मैं आनन्दपूर्वक आपके मठ में आकर भिक्षा ग्रहण करता। इसके लिये कष्ट उठाकर आपको यहाँ आने की जरूरत नहीं थी। अस्तु, मैं अवश्य आऊँगा।''

अगले दिन दस या ग्यारह बजे स्वामीजी, स्वामी शिवानन्द तथा अन्य लोग केदारनाथ-मन्दिर के महन्तजी के मठ में गये। श्रीलंका से आये हुए एक बौद्ध भिक्षु उन दिनों उस मठ में निवास कर रहे थे। उन्होंने स्वामीजी से पूछा – ''क्या संसार के सभी धर्मों में सिद्ध पुरुष हुआ करते हैं?'' इस पर स्वामीजी ने न केवल सहमति व्यक्त की, अपितु अनेक उदाहरणों द्वारा इस तथ्य पर विशेष बल देते हुए बोले – ''यहाँ तक कि निन्दनीय वामाचार-तंत्र में भी सिद्ध पुरुष हुआ करते हैं, परन्तु हमारे गुरुदेव (श्रीरामकृष्ण) कहा करते थे कि वह एक गर्हित मार्ग है।'' ऐसा लगा कि स्वामीजी की बात सुनकर भिक्षु सन्तुष्ट हो गये हैं। इसके बाद महन्त महाराज ने स्वामीजी तथा उनके संगियों को भलीभाँति भोजन कराया।

अपराह्न में महन्त महाराज स्वामीजी को एक अन्य कक्ष में ले जाकर अपने गुरुदेव तथा पूर्ववर्ती महन्तों के चित्र दिखाए तथा उनमें से प्रत्येक का नाम तथा गुण बताये। इसके बाद वे एक जोड़ा गैरिक वस्त्र लाये और एक वस्त्र से स्वामीजी के शरीर को आवृत्त कर दिया। महन्तजी अत्यन्त हर्षित होकर भावावेग में कहने लगे – ''आज मैंने एक सच्चे वेदान्ती को भोजन कराया।''

इसके बाद महन्तजी के अनुरोध पर सभी लोग केदारनाथ जी के मन्दिर में गए। स्वामीजी के सम्मान में उसी समय केदारनाथ की आरती होने लगी। परन्तु मन्दिर के बाह्य प्रकोष्ठ में, जहाँ गंगाभिमुखी नन्दी की मूर्ति है, प्रवेश करते ही स्वामीजी बाह्य-ज्ञानशून्य समाधिमग्न होकर द्वार के पास ही निश्चल तथा निस्पन्द होकर खड़े रहे। वे एक भी कदम आगे नहीं बढ़ सके, वहीं मूर्ति के समान खड़े रह गये – **चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे**। उनके पाँवों के मोजे पानी से भीग रहे थे, परन्तु उन्हें उतारने के लिये कोई आगे नहीं बढ़ा, क्योंकि वहाँ उपस्थित सभी लोग एक ऐसे भाव-जगत् में डूब गये थे कि बाह्य जगत् की सारी गतिविधियाँ अपने आप ही शान्त हो जाती हैं। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे – ''नरेन के शरीर में शिव विराजते हैं।'' वे यह भी कहा करते थे कि स्वामीजी उनके अनुरोध पर पृथ्वी पर अवतरित सप्तर्षियों में से एक हैं। हम लोगों का परम सौभाग्य था कि हम अपने समक्ष उनके इस अन्तरंग व्यक्तित्व को अभिव्यक्त होते देख सके थे। वहाँ उपस्थित सभी लोग उनकी दिव्यता का अनुभव कर रहे थे।

जब हम लोग मन्दिर से बाहर आने लगे, स्वामीजी तब भी भावसमाधि की अवस्था में थे। धीरे-धीरे हम बाहर आये और स्वामी शिवानन्द ने बड़ी सावधानीपूर्वक स्वामीजी को एक खुली गाड़ी में बैठाया, ताकि कहीं फिसल जाने से उन्हें चोट न लग जाय। गाड़ी धीरे-धीरे चल पड़ी और क्रमश: स्वामीजी की चेतना लौट आयी। गाड़ी जब एक अन्नक्षेत्र के सामने से होकर गुजर रही थी, तो वे एक बालक के समान टूटी-फूटी तमिल में चिल्ला उठे – ''नाट-कोट-चेट्टी।''

एक डॉक्टर प्राय: ही स्वामीजी से मिलने आया करते थे। उनका देश में हाल ही में फैल रही एक धार्मिक संस्था के साथ विशेष लगाव था। एक दिन वे स्वामीजी के समक्ष उसके संस्थापक की बड़ाई करते हुए बोलते रहे कि वह विचारधारा कैसे देश की महान् सेवा कर रही है और दावा करने लगे कि वही भारत की एकमात्र सही और सुयोग्य संस्था है। स्वामीजी बिना किसी टिप्पणी या प्रतिवाद के चुपचाप उनकी बातें सुनते रहे और इससे डॉक्टर का और भी बढ़ा-चढ़ाकर बोलने का साहस बढ़ता गया।

क्रमश: स्वामीजी के चेहरे में परिवर्तन आया और उनकी मुखमुद्रा कठोर तथा दृढ़ हो गयी। सहसा उनके मुख से शब्दों की धारा फूट पड़ी। उनकी आवाज गम्भीर गुँजायमान और अधिकारपूर्ण थी। मानो एक नया ही व्यक्ति बोलने लगा और डॉक्टर विस्मित होकर सुनने लगे – ''विदेशी लोग इस

देश में सभी विषयों के गुरु हो गए हैं, एकमात्र धर्म ही बच रहा है; उस पर भी वे लोग हाथ लगा रहे हैं और तुम लोग नतमस्तक होकर विदेशियों को गुरु के आसन पर बैठा रहे हो और स्वयं उनके सम्मोहित दास बन गये हो। इस पुण्य भारतभूमि से महापुरुषगण क्या बिल्कुल ही लुप्त हो गए हैं कि विदेश से गुरु ले आना होगा? यह क्या गौरव की बात है या हीनता की? मैंने यहाँ अभिनन्दन करने अथवा शोरगुल मचाने से सबको मना कर दिया है। स्वास्थ्य ठीक नहीं है, एकान्त में रहूँगा; इसीलिए चुपचाप बैठा हुआ हूँ।''

थोड़ी देर पूर्व उस डॉक्टर ने स्वामीजी को आध्यात्मिक दृष्टि से साधारण स्तर का मानकर उनके प्रति थोथी सहानुभूति जताते हुए कहा था – ''महाशय, नि:सन्देह यह बड़े खेद की बात है कि अमुक व्यक्ति आपसे मिलने नहीं आया !'' इस पर स्वामीजी थोड़े नाराज हो गये थे। अपने आलोचक को वास्तविकता समझाने के लिये स्वामीजी ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उन पर जमा दीं और आवाज को ऊँची करते हुए कहा – ''यदि मैं चाहूँ, तो आज रात ही तुम्हारी प्रिय संस्था के संस्थापक तथा पूरी वाराणसी को अपने चरणों में ला सकता हूँ, पर मैं अपनी दिव्य शक्ति इस प्रकार व्यर्थ कार्यों में नष्ट नहीं करना चाहता।''

डॉक्टर ने विषय को बदल दिया और स्वामीजी क्षण भर में ही फिर शान्त हो गये। हमने देखा कि समाहित संन्यासी के चारों ओर शान्ति विराज रही है, मानो वह पूरी घटना कभी घटित ही न हुई हो !

सुविख्यात देशभक्त श्री केलकर* उन दिनों वाराणसी में ही थे। एक दिन शाम को जब वे स्वामीजी से मिलने आये, उस समय वे अस्वस्थ होने के कारण बिस्तर में लेटे हुए थे। जैसे अपने गुरु या किसी महापुरुष के पास सम्मानपूर्वक जाते हैं, श्री केलकर ने उसी प्रकार विनीत भाव से हाथ जोड़े कमरे में प्रवेश किया और फर्श पर बिछी हुई दरी पर बैठ गये।

बातचीत अंग्रेजी में होने लगी। हम लोग थोड़ी दूरी पर बैठे और पूरी बातचीत नहीं सुन सके, परन्तु हमने देखा कि स्वामीजी लेटे-लेटे ही सहज भाव से बातें कर रहे हैं। परन्तु शीघ्र ही बोलने के आवेग में वे खाट पर ही उठकर बैठ गये और एक स्वस्थ व्यक्ति के समान बोलने लगे। इसके बाद वे उत्तेजित हो उठे। उनकी आँखें फैल गयीं, होठों पर दृढ़ता आ गयी। उनकी भौंहे सिकुड़ गयीं और चेहरा लाल हो उठा। उनकी सुप्त शक्तियों के पूरी तौर से जाग उठने से उनकी मधुर आवाज क्रमश: उच्च होती हुई गम्भीर रूप धारण करने लगी। श्री केलकर के लिये यह एक बिल्कुल ही नया अनुभव था और वे इस रूपान्तरण पर विस्मित होकर मानो सम्मोहित से बैठे रहे और स्वामीजी अपनी ओजस्वी वाणी में धाराप्रवाह बोलने लगे। विषय था भारत और उसकी दुरवस्था। इसके अतिरिक्त राजनीति, समाज-सुधार तथा और भी अनेक विषयों पर चर्चा चल रही थी।

''इस प्रकार दीन-हीन अवस्था में भारतवासी यदि अधिक दिन बचे रहें, तो भी क्या लाभ?'' स्वामीजी गरज उठे – ''पल-पल ये लोग नारकीय कष्ट भोग रहे हैं और केवल जीवन मात्र बचाकर दिन बिताए जा रहे हैं; दिन-रात ये अनाहार, लांछना, क्लेश भोग रहे हैं, प्रज्वलित नरकाग्नि में दग्ध हो रहे हैं – मृत्यु इससे कहीं अधिक अच्छी होती !''

विक्षुब्ध कण्ठ से वे इसी प्रकार बोलते गये और हम लोग साँस रोके सुनते हुए भारतवर्ष के लिये उनकी भयंकर पीड़ा देखकर विस्मित होते रहे। वे एक यथार्थ देशभक्त और एक सच्चे सन्त थे। उन्होंने कहा भी तो था – ''मैं उसी को महात्मा कहता हूँ, जिसका हृदय दीन-दुखियों के लिये सहानुभूति का अनुभव करता है?'' उनके मामले में यह अक्षरश: सत्य था। क्योंकि उनके द्वारा महसूस की जानेवाली पीड़ा इतनी तीक्ष्ण थी कि इसके कारण वे अधीर हो उठते और अपने शारीरिक रोग तक की बात भूल जाते।

उन्होंने केलकर से कहा कि केवल राजनीति और उससे सम्बन्धित आन्दोलनों में विदेशियों के अनुकरण से कोई लाभ नहीं होगा और न अन्य देशों की निष्ठुर विदेश-नीतियाँ हमारी सहायता कर सकेंगी। केवल अपने भीतर से ही सहज भाव से उत्पन्न प्राचीन परम्पराओं का अनुसरण भारत को ऊपर उठा सकता है। उन्होंने इस अन्तिम बिन्दु पर विशेष बल दिया और श्री केलकर को समझाने के लिये इस पर विस्तार से बोले। उन्होंने यह भी कहा कि तरह-तरह के सही-गलत प्रयोगों से नहीं, अपितु केवल धर्म के द्वारा ही भारत में समाज-सुधार तथा अन्य विकास-कार्यों को सम्पन्न किया जा सकता है। धर्म से विच्छिन्न राजनीति तथा समाज-सुधार के द्वारा भारत को कोई स्थायी या प्रभावी लाभ न होगा। लगा कि श्री केलकर यह सब सुनकर बड़े प्रभावित हुए हैं और उन्होंने सम्मानपूर्वक हाथ जोड़े हुए स्वामीजी से विदा ली।

स्वामीजी एक अत्यन्त शक्तिमान व्यक्ति थे। एक ओर जहाँ वे कहीं भी अन्याय या अत्याचार देखकर उस पर पूरी शक्ति से आक्रमण करते और उसे जड़ से उखाड़ने के प्रयास में उस पर पिल पड़ते; और दूसरी ओर उनका हृदय बड़ा ही

* कहीं-कहीं इन्हें 'मराठा'-सम्पादक श्री नरसिंह चिन्तामन केलकर बताया गया है, पर शोधों से ज्ञात हुआ है कि वस्तुत: ये श्री सदाशिव पाण्डुरंग केलकर थे और उनके इस साक्षात्कार का एक विवरण प्रार्थना-समाज की मराठी 'सुबोध-पत्रिका' के ३० मार्च, १९०२ के अंक में प्रकाशित हुआ है। इस विषय में सविस्तार जानकारी के लिए देखें - बँगला मासिक 'उद्बोधन' के सितम्बर १९८८ अंक में प्रकाशित श्री शंकरीप्रसाद बसु का 'स्वामीजीर संगे एक प्रार्थनासमाजीर साक्षात्कार : नतुन तथ्य' शीर्षक लेख। (अनुवादक)

कोमल तथा सहानुभूतिशील था। एक बार उन्होंने कहा था – "दूध दूहते समय उसमें जो कोमल बुलबुले उठते हैं, उससे भी क्या तुम्हारी उंगली कट सकती है? परन्तु श्रीराधा का हृदय उससे भी अधिक कोमल था।"

अपने दार्जिलिंग-निवास के दौरान एक दिन जलपान के बाद वे कुछ अन्य लोगों के साथ पर्वतों के सौन्दर्य का रसास्वादन करते हुए एक सड़क पर टहल रहे थे। सहसा उन्होंने अपने मनश्चक्षुओं से देखा कि अपनी पीठ पर भारी बोझ लिये एक भुटिया महिला फिसलकर गिर गयी है और घायल हो गयी है। उनके साथ के अन्य लोगों ने यह घटना नहीं देखी। उनके साथ के युवक अनुभवहीन थे और उनकी भाव-समाधि अवस्था के बारे में नहीं जानते थे। स्वामीजी की दृष्टि सुदूर स्थित किसी वस्तु पर स्थिर हो गयी और वे वहाँ से एक इंच भी आगे नहीं बढ़ सके। उनका चेहरा पीला पड़ गया और वे पीड़ा से चिल्ला उठे – "मुझे यहाँ बड़ी पीड़ा हो रही है, मैं आगे नहीं चल सकता।" किसी ने पूछा – "स्वामीजी, आपको पीड़ा कहाँ हो रही है'?" उन्होंने अपने बगल में संकेत करते हुए कहा – "यहाँ। क्या तुमने उस महिला को गिरते हुए नहीं देखा?" वह युवक कुछ भी समझ नहीं सका। उसे स्वामीजी को पीड़ा महसूस होना विचित्र-सा लगा, परन्तु उसने कुछ कहा नहीं। समय आने पर उन्हें इस घटना का महान् तात्पर्य तब समझ में आया, जब उन्हें मालूम हुआ कि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच महान् सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध हो सकता है और ये देवमानव तो दूर से ही दूसरों के भावों को समझ तथा अनुभव कर सकते हैं। ❖ **(क्रमशः)** ❖
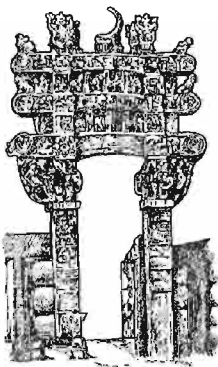
धरोहरें – जो जाते-जाते रह गयीं

डॉ. राकेश कुमार सिन्हा 'रवि'
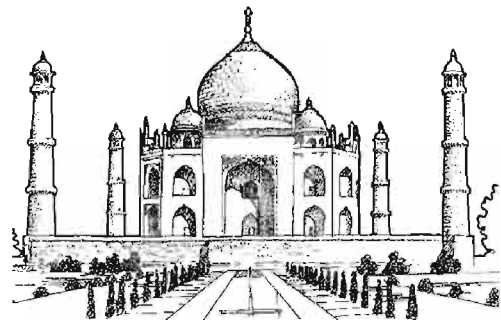
भरतवर्ष के सरजमीं पर धरोहरों की कमी नहीं है। प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीन जमाने तक यहाँ धरोहरों का निर्माण होता रहा। इनमें कुछ स्थानीय स्तर के हैं, तो किन्हीं-किन्हीं का महत्त्व दूर देशों तक है। यह सही है कि समय के साज पर बने इन धरोहरों में कुछ की सप्रमाण स्पष्ट पहचान अंग्रेजों के जमाने में प्राचीन उल्लेख के आधार पर स्पष्ट हो पायी, पर उन विदेशियों ने यहाँ की कितनी ही बहुमूल्य कृतियाँ अपने साथ ले जाकर उसे अपने देश की शोभा बना डाली। यही कारण है कि आज विदेशों के संग्रहालयों में भारतीय कलाकृतियों का परचम शान के साथ लहरा रहा है।

इतिहास बताता है कि कुछ ऐसे प्रमुख भारतीय धरोहर भी हैं, जिनकी योजना बन जाने के बाद भी वे विदेश नहीं जा सके। इनमें ताजमहल एवं साँची-स्तूप का अलंकृत तोरण-द्वार प्रमुख हैं – एक मध्यकालीन कला की सर्वश्रेष्ठ कृति और दूसरा प्राचीन भारतीय इतिहास का एक अनूठा स्मारक।

जानकारी मिलती है कि लॉर्ड कर्जन ने अपने शासनकाल (१८९९-१९०५) के दौरान आगरा के विश्वविख्यात ताजमहल को तोड़कर इंग्लैंड में ले जाकर वहाँ स्थापित करने की योजना बनायी, पर उसके अधिकारियों ने उसे हिसाब लगाकर स्पष्ट किया कि ताजमहल को इंग्लैंड ले जाकर वहाँ स्थापित करने में जितना खर्च बैठेगा, उससे कम खर्च व परेशानी में ताजमहल का प्रतिरूप इंग्लैंड में ही बनाकर तैयार किया जा सकता है। इस प्रकार कर्जन की यह योजना ऐसे ही रह गयी और ताजमहल देश में ही रह गया।

साँची के तोरण-द्वार के बारे में यह विवरण मिलता है कि इसे भोपाल की तत्कालीन बेगम-साहबा ने इंग्लैंड की महाराजी एलीजाबेथ को तोहफे में दे डाला था और उसे साँची से ले जाकर इंग्लैंड में स्थापित करने के आदेश भी जारी हो गये, परन्तु भोपाल के तत्कालीन एजेंट कैप्टेन इडेन नहीं चाहते थे कि इस बहुमूल्य सांस्कृतिक धरोहर को उसके मूल स्थान से विस्थापित किया जाय, कारण इसका मूलत्व नष्ट हो जाने का भय था। इसलिये उसने पूरी योजना में होने वाले अड़चन को स्पष्ट करके कानूनी दाँव-पेंच के साथ ऐसा उपाय किया कि देश की कृति देश में ही रह गयी। नहीं तो विशाल गुप्तकालीन बुद्ध-प्रतिमा, अनेकानेक स्वर्ण-सिक्के, वाग्देवी की अप्रतिम मूर्ति तथा अन्यान्य बेशकीमती धरोहरों के साथ ही ये दोनों भी आज विदेशी संग्रहालयों में शोभायमान होते।

विधाता को धन्यवाद कि विदेश भेजे गये अकूत भारतीय धरोहरों में, विश्व-विरासत-स्मारक में नामित ये दोनों भी शामिल नहीं हो पाये। नहीं तो आज साँची स्तूप का तोरण-द्वार और ताजमहल देखने के लिये हमें विदेश जाना पड़ता।

माँ श्री सारदा देवी (९)

आशुतोष मित्र

यह रचना 'श्रीमाँ' नामक पुस्तक के रूप में १९४४ ई. के नवम्बर में प्रकाशित हुई थी। यहाँ उसके प्रथम तीन अध्याय ही लिये गये हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस अंश का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

माँ के एक सेवक[३५] सहसा जयरामबाटी आ पहुँचे। उन्हें देख माँ ने विस्मित होकर पूछा – "तुम यहाँ ! गये नहीं?" सेवक ने कहा – "आपको पत्र लिखा तो था।" माँ – "मैंने तो बद्रीनारायण होकर उसके बाद आने को लिखा था। सेवक – 'छह दिन प्रतीक्षा के बाद भी पत्र न मिलने पर मैं सीधा चला आया। माँ – बुद्धू लड़का ! दो दिन ठहर नहीं सकते थे। ऋषीकेश से पत्र आने-जाने में क्या कुछ छह दिन ही लगते हैं? सुबह-सुबह कहाँ से आये? किस रास्ते आये?" सेवक – "कल शाम से पूर्व वर्धमान में उतरा, उसके बाद सीधे यहाँ आया।"

माँ – "सारी रात पैदल चले हो? वर्धमान क्या नजदीक है? जाओ, अच्छी तरह तेल लगाकर नहाओ – ठण्डे हो लो। आज सिंहवाहिनी की पूजा करने की वरदा की बारी है। महाप्रसाद आया है। अभी मैं रसोईघर में जा रही हूँ। खाने-पीने के बाद दोपहर में तुम्हारी बातें सुनूँगी। फिर नलिनी से बोलीं – "तेरा भाई नहाकर आये तो मुरमुरे दे देना।" पास खड़े कुंज (खेत में काम करनेवाले भृत्य) से बोलीं – "दादाबाबू रात भर पैदल चल कर आये हैं। उसकी अच्छी तरह तेल-मालिश कर दे।"

दोपहर में माँ और सेवक में जो बातचीत हुई, उसका मर्म इस प्रकार है।

सेवक माँ की अनुमति लेकर बद्रीकाश्रम-भ्रमण के लिए निकले थे। उनके साथ एक अन्य साधु भी थे, जो माँ के शिष्य थे पर बेलुड़ मठ से जुड़े नहीं थे। दोनों लोग ऋषीकेश जाकर धनराज गिरि के 'कैलाश-आश्रम' में अतिथि हुए। सुबह उठने पर अपने साथी को सोया देखकर सेवक अकेले शौचादि से निवृत होकर झाड़ियों[३६] में साधु देखते घूम रहे थे। देखते-देखते झाड़ियों के उत्तरी सीमा तक पहुँचने पर उसे एक करुण आर्तनाद सुनाई दिया। उस ओर एक कूप के द्वार तक पहुँचने पर पता चला कि किसी नारी का कण्ठ-स्वर है। कुतूहलवश उन्होंने भीतर जाकर देखा कि एक नेपाली साध्वी का मृत्यु-काल आसन्न है और वे निरन्तर चिल्ला रही हैं – "ए माई, ए माई, अभी तक एक भी नहीं भेजी?' तभी खड़े सेवक पर दृष्टि पड़ते ही हिन्दी में बोलीं – "आ गये? जल्दी आओ – पास आओ – जैसा कहूँ वैसा करो – अब मेरे जाने में ज्यादा देर नहीं है।" सेवक चकित रह गये। कह क्या रही है? लगता है उन्माद में बोल रही है। खैर, देखा जाये – सोचकर पास जा बैठे। नेपाली माई का ज्ञान स्पष्ट था। बोलती गयीं – "सन्देह मत करो, माँ से पूछना – अपने एक शिष्य को मेरे आखिरी समय मेरे पास भेजने को वचनबद्ध हैं।" सेवक भौचक्के रह गये, पर इस अलौकिक घटना का अन्त देखने को उत्सुक थे।

"इस समय जैसा कहती हूँ, वैसा करो" – कहकर नेपाली माई ने अपने बिस्तर के नीचे संकेत किया। सेवक को वहाँ चालीस रुपये तथा देवनागरी अक्षरों में लिखी एक छोटी -सी पुस्तिका मिली। माई ने कहा – "मेरे मर जाने पर मेरी देह को साधुओं की सहायता से गंगा में प्रवाहित कर देना और चौथे दिन इन रुपयों से साधुओं के भण्डारे की व्यवस्था करना। इस पुस्तिका को तीन दिनों में कण्ठस्थ कर लेना और तीसरे दिन संध्या के पूर्व गंगा में फेक देना। इसके मंत्रों को परोपकार में लगाना – स्वयं के लिए कदापि नहीं।"

माई से पाँच मिनट की छुट्टी लेकर सेवक तुरन्त धनराज गिरि के आश्रम में गये और वहाँ अपने साथी को न पाकर कह आये कि वे अकेले बद्रिकाश्रम चले जायें; उनका जाना नहीं हो सकेगा और संभव है उन्हें बंगाल लौटना पड़े।

लौटकर देखा – माई का अन्तिम समय आ पहुँचा है। "ए माई, ए माई" – कहते हुए नेपाली माई ने शरीर त्याग दिया। अन्तिम क्रिया सम्पन्न करके सेवक ने काली कमलीवाले की धर्मशाला में जाकर अध्यक्ष नाथजी से भेंट की और रुपये जमा करके भण्डारे की व्यवस्था की। इसके बाद वे धर्मशाले में एक कमरा लेकर वह पुस्तिका रटने लगे। कमरा लेने के बाद सर्वप्रथम उन्होंने माँ के नाम एक संक्षिप्त और दूसरा

---

३५. नाम छापने की मनाही है।

३६. जहाँ साधु लोग छोटे-बड़े 'कूप' (कुटिया) बनाकर निवास करते हैं। यह दो तरह की होती हैं – बड़ी एवं छोटी। 'कूप' फूस नामक विशेष घास से बनती है और देखने में धान की मड़ई जैसी होती है।

कोई न समझ सके, ऐसा एक सांकेतिक पत्र लिखा – और यह भी पूछा कि आपके पास आऊँ या नहीं। अनुष्ठान-पद्धति के साथ उस पुस्तिका को कण्ठस्थ कर लेने के बाद उन्होंने निर्दिष्ट समय के भीतर ही उसे गंगा में विसर्जित कर दिया। नेपाली माई के देहान्त के बाद छह दिनों तक ऋषीकेश में माँ के पत्र की प्रतीक्षा करने के बाद, उत्तर न मिलने पर अब जयरामबाटी आये हैं।

सारी कहानी सुनने के बाद माँ बोलीं – "हाँ, मुझसे बोली थी कि अन्त समय में एक-न-एक सन्तान को भेजना होगा। वह स्त्री बहुत अच्छी थी। कई तरह के अनुष्ठान जानती थी। काशी में मेरे पास आती थी, मुझसे पंचतपा करने को बोली थी।" सेवक ने पूछा कि वे इन मंत्रो का अनुष्ठान करेंगे या नहीं? माँ ने कहा – "जरूर करोगे। जिससे लोगों का भला हो, वह करना चाहिए। तो भी, यदि अपना मन समर्थन करे, तभी करना – अन्यथा नहीं।"

एक अन्य दिन माँ अपने कमरे में बैठकर गिरीशचन्द्र के जयरामबाटी आने की बातें बता रही थी। गाँव में सरल लोगों ने जब सुना कि गिरीश बाबू थियेटर चलाते हैं, तो सोचा कि अच्छा गाते होंगे। इसलिए उन्हें गाने के लिए परेशान कर डाला। गिरीशबाबू जितना ही कहते कि वे गाना नहीं जानते, वे लोग उनसे गाने के लिए उतना ही जिद करते। आखिरकार लोगों को सन्तुष्ट करने के लिए उन्होंने दो गाने गाये। यह घटना माँ से सुनकर लेखक को इच्छा हुई कि माँ से गाने का अनुरोध करे। वह जिद पकड़ी कि वे उन दोनों गानों में से कोई एक सुनायें। माँ ने पहले तो हीला-हवाली की। अन्त में बहुत कहने पर, पता लगवाकर कि कमरे से बाहर कोई नहीं है, निम्नलिखित दो पंक्तियाँ मात्र सुनायीं – (भावार्थ) "गोपाल घुटने के बल दौड़ते हैं, पीछे मुड़-मुड़कर देखते हैं कि कहीं रानी गोद में न उठा लें। रानी कुतूहल से 'पकड़ो, पकड़ो' कहती हैं और वे तेजी से घुटनों के बल चलते हैं।"

गाना सुनकर लेखक की धारणा हुई कि माँ का गला मधुर तो है, पर उसमें थोड़ा ग्राम्य सुर है।

एक बार माँ ने अपनी पढ़ाई-लिखाई के बारे में बताया था। कामारपुकुर में घर की बहू के रूप में किस प्रकार वे चोरी-चोरी लक्ष्मी दीदी से पढ़ती थीं – लक्ष्मी दीदी पाठशाला से पढ़कर आने के बाद उन्हें पढ़ाया करतीं। यह सुनकर लेखक के मन में उनसे कुछ लिखवाने की इच्छा हुई। उसने तत्काल उन्हें पकड़ा। वे भी लिखनेवाली नहीं थीं और वह भी छोड़नेवाला न था। अन्त में "तो तुम्हारे नाम लिखती हूँ" – कहकर माँ ने लेखक द्वारा लाये हुए कागज के एक टुकड़े पर लिखा। उनकी वह लिखावट आज तक हमारे पास है।

एक बार पगली मामी की ताश खेलने की इच्छा हुई और वे माँ के साथ खेलने के लिए जिद करने लगी। बहुत कहने के बाद भी जब देखा कि माँ नहीं खेलेंगी, तो उनके दोनों पाँव पकड़कर उन्हें राजी किया। माँ बोलीं – "मुझे तो राजी करा लिया, मगर और भी तो दो जन चाहिए – किसे बुलाने जाओगी?" उन्होंने कहा – "नलिनी को ले आती हूँ और बाहर से आशु को बुला लाऊँगी।" मामी ने वैसा ही किया। माँ के पास जाकर देखा, उनके कमरे के बाहर चटाई बिछी है और मामी तथा नलिनी हाथ में ताश लिये बैठी हैं। माँ भीतर से बोली – "आओ, ताश खेलना पड़ेगा – पगली की जिद है।" मैंने मामी से कहा – "माँ और मैं एक तरफ हुए बिना मैं नहीं खेलूँगा।" वे राजी हुईं। खेल शुरू हुआ। हारने के साथ-साथ मामी को क्रोध इतना बढ़ा कि वे ताश फेंककर चली गयीं। जाते-जाते कह गयीं – "मैं जानती हूँ केवल तुम्हीं लोग जीतोगे; भतीजी और मैं हारते रहेंगे ! है न?" माँ ने उत्तर दिया – "हम लोग सत्पथ में हैं – सात्त्विक हैं – हम लोग नहीं जीतेंगे तो क्या तुम लोग जीतोगी?" दूर से मामी को कहते सुना गया – "हाँ-जी-हाँ !"

ठाकुर के पाठशाला के सहपाठी गणेश घोषाल का घर कामारपुकुर में है। लेखक के कामारपुकुर जाने पर वे उसे खिलाते और प्यार से 'हनुमान' कहते। एक दिन वे लेखक के साथ आनुड़ और ताजपुर होते हुए माँ का दर्शन करने जयरामबाटी आये। माँ जब अपने गले में आँचल डालकर उन्हें प्रणाम करने लगीं, तो वे कहने लगे – "आप तो माँ हैं, आपको क्या ऐसा करना चाहिए? पुत्र का अहित होगा" – और घुटने टेकर उन्होंने माँ को प्रणाम किया।

मैंने माँ के हाथ की बनी हर प्रकार की रसोई खायी है। हम कलकत्ते के निवासी कह सकते हैं कि वे एक कुशल रसोईया हैं और उनकी रसोई ठीक कलकत्ते जैसी होती है।

एक दिन जयरामबाटी में एक मजेदार घटना हुई। सुबह शौच आदि करके लौटते समय माँ के जन्म-स्थान के पास एक पानी-भरे गड्ढे में बहुत-से खूब काले बण्डे के पौधे दीख पड़े। सोचा, यहाँ के लोग कितने बुद्धू हैं – बण्डे का साग खाना नहीं जानते। नहीं तो क्या, इतने साग बचे रहते? कोई-न-कोई तोड़कर ले ही जाता। यह सोचकर मैं ढेर सारे साग तोड़कर पीठ पर लिये माँ के पास पहुँचा। उसे देखकर माँ अपनी हँसी नहीं रोक सकीं, तो भी (शायद सन्तान के मन को कष्ट न हो, इसलिये) बोलीं – "इधर के लोग बण्डे का शाक खाना नहीं जानते – पकाना तक नहीं जानते। खैर, मैं पकाऊँगी।" फिर पूछा – "कहाँ मिले?" मैंने कहा – "बैनर्जी लोगों के मकान के सामने के गड्ढे में हुए थे।"

"पानी का साग? वह तो खूब काटता है। बुद्धू लड़के ! पानी का साग काटता है, नहीं जानते?" इतना कहकर देखा कि सन्तान की पीठ सूज गयी है – दोनों हाथों की भी प्राय: वही दशा है। जल्दी से तेल लाकर मालिश करने बैठीं। मैं

संकुचित होकर बोला – "मुझे ऐसी सूजन या खुजली की परवाह न भी हो, परन्तु आपको जो परेशान होना पड़ा है, वह मुझे हमेशा याद रहेगा – फिर कभी ऐसा नहीं करूँगा।" मालिश हो जाने पर बोली – "अभी नहाने मत जाओ, पहले तेल सूख जाये। नहीं तो पानी पड़ने पर फिर सूजेगा।"

इसके बाद माँ हसुआ, नारियल और उसे खुरचने का यंत्र लाकर दोनों हाथों में तेल लगाकर साग काटने बैठीं। मैं भी नारियल तोड़कर खुरचन निकालने लगा। खाते समय माँ ने ढेर सारा साग परोसा। बड़ा स्वादिष्ट था, जरा भी काटता न था। पूछने पर पता चला कि उसे तीन बार इमली के साथ उबालकर पानी फेंकने के बाद चौथी बार पकाया गया है।

माघ का महीना। कड़ाके की ठण्ड पड़ रही थी। सुबह सामने बैठकर हम लोग धूप ले रहे थे। पिछले दिन शिरोमणिपुर का बाजार हो चुका है। इस बाजार के बाद वाले दिन प्राय: हर बार एक स्त्री सब्जी बेचने जयरामबाटी आती। माँ पैसे देकर और नानी-माँ धान-सरसों आदि के बदले में उससे सब्जियाँ खरीदतीं। आज भी वह स्त्री आयी है। नानी-माँ ने कुछ खरीदा। इसके बाद वे शौच गयीं। ढेंकीशाले में धान कूटा जा रहा था, आकर उसमें हाथ बँटाकर काम पूरा कराया। दुबारा शौच आदि गयीं। लौटकर काली मामा के दालन में सो गयीं। वहीं से पुकारकर बोलीं – "भाई, अब नहीं बचूँगी – सिर न जाने कैसा-कैसा कर रहा है। यहाँ से मत जाओ – पास रहो।" मैं माँ को बुला लाया। उन्होंने आते ही पूछा – "क्या तकलीफ हो रही है, माँ?" नाड़ी देखने को कहा। मैंने देखकर कहा – "बुढ़ा शरीर है, कुछ कहा नहीं जा सकता।" इस समय नानी के कोई भी पुत्र पास नहीं थे। वे एक बार फिर शौच गयीं। माँ उन्हें पकड़कर कलुपुकुर के किनारे ले गयी। लौटकर नानी बोली – "जरा-सी कुम्हड़े की सब्जी खाने की इच्छा हो रही है।" माँ ने उत्तर दिया – "कुम्हड़ा तो भारी होता है। ठीक हो जाने पर खा लेना।" वे पुन: सो गयीं।

फिर बोलीं – "अब खाना नहीं होगा। नाती के हाथ का पानी पीना है।" माँ जल्दी से गंगाजल ले आयीं – मैंने तीन बार उनके मुँह में डाला। माँ से भी देने को कहा – उन्होंने भी तीन बार दिया। मैंने नाड़ी देखी। नहीं मिली। माँ को धीरे से बताने पर उन्होंने नानी के मस्तक और छाती पर जप किया। जप के साथ ही नानी के दोनों नेत्र ऊपर उठ गये – उन्होंने अपनी इहलीला संवरण कर लिया। घर में रोना-चिल्लाना मच गया। उस समय दिन के लगभग नौ बजे थे।

वरदा मामा खेत में थे। उन्हें बुलवाया गया। काली मामा मड़ागेड़े में थे। उन्हें खबर भेजा गया। खबर पाकर सभी एकत्रित हुए। यथासमय आमोदर के किनारे नानी की अन्तिम क्रिया सम्पन्न हुई।

नानी के विषय में जो कुछ सुना है, उसे यहाँ बता देना उचित होगा। नानी अपनी कन्या (हमारी 'माँ') का विवाह करके प्रारम्भ में सन्तुष्ट नहीं थीं। वे हमेशा "एक पागल के साथ" (कन्या के) विवाह का आक्षेप करते-करते कहतीं – "बेटी के हाथ-पाँव बाँधकर पानी में डाल दिया है!" यह शिकायत उनके मुख से तब तक निकलती रही, जब तक कि माँ की सांसारिक अवस्था अच्छी नहीं हो गयी और माँ के कारण नानी की गृहस्थी में आय नहीं होने लगी। यहाँ यह भी बता देना उचित होगा कि उन्होंने माँ को कभी पति के घर नहीं भेजा – माँ अपनी प्रेरणा से ही हर बार गयी थीं। परन्तु परवर्ती काल में जब नानी-माँ का घर धन-धान्य से भरा रहने लगा, तब से नाती-नतिनियों के प्रति उनका प्रेम दिखने लगा और क्रमश: उन लोगों पर उनका स्नेह भी बढ़ने लगा। आखिर में उनकी गृहस्थी 'नाति-नतिनियों' की गृहस्थी में परिणत हो गयी थी। उस समय उन्हें बोध होता कि उनकी गृहस्थी में – "शिव हैं, ब्रह्मा हैं, विष्णु हैं।" हमने इस विषय में जो कुछ सुना है, या जानते हैं, वही लिखा है।

माँ के भाइयों-भावजों के अनुचित हठ की मात्रा बीच-बीच में इतनी बढ़ जाती कि वह माँ की पृथ्वी-जैसी सहिष्णुता तक की सीमा पार कर जाती और उस समय कई बार उन्हें कहते सुना है – "अरे, मैं जो कचरे की ढेरी में कमल खिली हूँ और ठाकुर भी वैसे ही – गोबर की ढेरी के कमल हैं!"

नानी-माँ की मृत्यु के अगले दिन सुबह माँ ने भाइयों और लेखक को बुलाकर श्राद्ध की व्यवस्था करने का आदेश दिया। उन्होंने कहा कि श्राद्ध में किसी प्रकार की त्रुटि न हो। सामान की सूची बनी और लेखक दोपहर में भोजन के बाद कलकत्ता के लिए रवाना हो गये।

कलकत्ता में तीन दिन ठहरकर सारा सामान खरीदने के बाद, उन्हें तीन बैलगाड़ियों में लादकर लेखक चौथे दिन जयरामबाटी पहुँचे। श्राद्ध बड़ा भव्य हुआ – पच्चीस पीतल के घड़े, छाते, आसन और खड़ाऊँ दान किये गये। नानी की अन्तिम इच्छा के अनुसार श्राद्ध में ब्राह्मणों और अब्राह्मणों को कुम्हड़े की सब्जी भी प्रचुर मात्रा में खिलायी गयी।

श्राद्ध में अत्यधिक परिश्रम के फलस्वरूप माँ का स्वास्थ्य काफी बिगड़ गया था और उनके फिर पूर्ववत् स्वस्थ होने में एक महीने से भी अधिक समय लगा था।

❖ (क्रमशः) ❖

सहनशील बनिये

जियाउर रहमान जाफरी

सहिष्णुता या सहनशीलता एक दुर्लभ मानवीय गुण है, जो मनुष्य को सन्तों की श्रेणी में लाकर खड़ा कर देता है। इस पृथ्वी पर जितने भी महापुरुष हुए, सभी ने सहिष्णुता की सीख दी, मुहब्बत का पैगाम दिया और संवेदनशीलता के पाठ पढ़ाये। कहा भी गया है कि कटु वचन मत बोलो और किसी का दिल तोड़कर काबा न बनाओ। दूसरों के दुख को अपना दुख समझो और यदि नहीं समझते, तो ईश्वर भी कोई जरूरी नहीं तुम्हारी पीड़ा को दूर करने का प्रयत्न करें। आये दिन हम कितनी गलतियाँ करते हैं। जाने-अनजाने हमसे भूलें हो जाती हैं और ईश्वर उन्हें क्षमा करते हैं, लेकिन हम अपेक्षाकृत अत्यन्त तुच्छ होने के बावजूद छोटी-सी बात पर बदला लेने के लिये उतारू हो जाते हैं। याद रखिये, अगर आप में सहनशीलता नहीं है, तो आप शैतान के कब्जे में हैं। शैतान आग का बना है और मनुष्य मिट्टी का। मिट्टी का स्वभाव है ठण्डक प्रदान करना। आग की प्रवृत्ति है दाह पैदा करना। आप यदि स्वभाव से ठण्डे नहीं हैं, आपकी वाणी मृदुल नहीं है, आप में बर्दाश्त करने की क्षमता नहीं है, तो आप हिंसक पशु-तुल्य विवेकहीन प्राणी हैं। इतिहास साक्षी है कि कोई भी सम्राट् चाहे कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो; विवेक खोकर आधिपत्य नहीं जमा सका। एक कहावत भी है – यदि तुम अपना विवेक खो देते हो, तो सब कुछ खो देते हो। दूसरे के अपराध को क्षमा करना, किसी के कटु वचन को सह जाना, क्रोध का उत्तर प्रेम से देना – यह कायरों के नहीं बहादुरों के लक्षण हैं।

भगवान श्रीकृष्ण शिशुपाल द्वारा सौ बार अपशब्द कहने के बाद भी उसे क्षमा कर देते हैं, लेकिन बुद्धिभ्रष्ट शिशुपाल को तब भी सुधि नहीं आती, तो कृष्ण को चक्र उठाना ही पड़ता है। प्रभु ईसा मसीह को विरोधियों ने सलीब पर टाँग दिया, लेकिन वह कहते रहे – इन्हें माफ करना प्रभु, ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं। हजरत मुहम्मद दुश्मनों के द्वारा पत्थर चलाये जाने पर भी उनके खैर के लिये दुआएँ माँगते रहे। एक कहावत भी है कि फलों से लदा हुआ वृक्ष नीचे की ओर झुकता है, जबकि ठूँठ-सा वृक्ष सीधा खड़ा रहकर व्यर्थ इतराता है। क्या शक्ति या सामर्थ्य में ये लोग किसी से कम थे? बलवान हेते हुये भी क्षमा कर देना उनका आदर्श गुण था। इस सन्दर्भ में हमें डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् की यह उक्ति हृदयंगम कर लेनी चाहिये – मानव का दानव बन जाना उसकी पराजय है, मानव का महामानव होना एक चमत्कार है, परन्तु मानव का मानव होना उसकी विजय है। कहा भी गया है – क्षमा बड़न को चाहिये छोटन को उत्पात। विदर्भ के राजा सुदेव का पुत्र श्वेत महान् तपस्वी तो था, किन्तु उत्तम तप करते हुये भई उसने सिर्फ शरीर का पोषण किया था। इसलिये मृत्यु के उपरान्त ब्रह्मलोक में जाकर भी उसे आनन्द की प्राप्ति नहीं हुई। कहने का अर्थ मनुष्य का जीवन सिर्फ इसलिये नहीं है कि वह अपना पेट पाले। वह समाज का भी एक अंग है। पवित्र ग्रन्थ इंजील (बाइबिल) में कहा गया है कि यदि तुम अपने पड़ोसी से प्रेम नहीं करते, जिसको तुम नित्य देखते हो, तो उस परम पिता से कैसे प्रेम कर सकोगे, जिसको तुमने कभी देखा ही नहीं।

बहुत-से लोग सहनशीलता को कायरता का पर्याय मानते हैं। वे भूल जाते हैं कि सहिष्णुता वीर पुरुषों की थाती है और कायरता कमजोरी की पूँजी है। हाँ, जब शक्ति ही एकमात्र विकल्प रह जाता है, तब सहिष्णुता भी कायरता की श्रेणी में आ जाती है। समय पर प्रेम, समय पर क्रोध – यही वीर पुरुषों के लक्षण हैं। राम चाहते हैं कि रावण सीता को मुक्त कर दे। वे विनम्रतापूर्वक अपने दूत को भेजते हैं, किन्तु अड़ियल रावण जब नहीं मानता, तब युद्ध राम का धर्म बन जाता है। समान परिस्थिति में महाभारत में भी भगवान कृष्ण अर्जुन को मोह त्यागकर धर्मयुद्ध करने का उपदेश देते हैं।

सहिष्णुता एक दैवी गुण है, इसलिये विश्व के सभी धर्मों ने अपने-अपने अनुयायियों को सर्वप्रथम सहिष्णु बनने की सीख दी। महात्मा बुद्ध अहिंसा के पक्षधर बने। उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त करने के पश्चात् आजीवन – अहिंसा परमो धर्मः – के सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार किया। उनका मत था कि किसी जीव को दुख नहीं पहुँचना चाहिये। यही सबक हिन्दू, जैन और इस्लाम धर्म ने भी दी।

हम कह सकते हैं कि क्रोध उस अग्नि के समान है, जो सबसे पहले हमें ही भस्म करता है। उससे अपना ही अहित होता है। इसलिये प्रसिद्ध निबन्धकार डेनियल का कथन है कि क्रोध से अधिक विश्व की कोई वस्तु मानव को कुरूप नहीं बनाती। पुराण में बतलाया गया है कि वह मनुष्य जिसमें क्रोध है, जिसका हृदय निर्मल नहीं है और जो प्राणियों को अपनी आत्मा के समान अनुभव नहीं करता, उसे तीर्थ करने से कोई लाभ नहीं मिलता। पवित्र ग्रन्थ हदीस में रमजान के सम्बन्ध में कहा गया है कि यदि तुम झूठ बोलते हो, दूसरों को सताते हो, हराम की कमाई खाते हो, पड़ोसी का हक अदा नहीं करते, तो अल्लाह को इसकी कोई जरूरत नहीं कि तुम रोजा रखकर भूखे-प्यासे रहो।

हम अपने दैनन्दिन जीवन-चर्या में भी देखते हैं कि जो लोग दूसरे के कटु वचनों को सुनकर भी हमेशा मधुर बोलते हैं, लोग उनके स्वभाव की तारीफ करते नहीं थकते। ऐसे उदारवादी सन्तों को इतिहास अपने पृष्ठों पर सदा के लिये अंकित कर लेता है। जो व्यक्ति जितना महान् होता है, उसकी सहनशीलता भी उतनी ही अधिक होती है। भगवान राम तीन दिन तक समुद्र से पथ माँगते रहे। सुकरात को व्यक्ति गाली देता रहा और वे सुन-सुनकर मुस्कारते रहे। हमें यह बात आत्मसात कर लेनी चाहिये कि विद्या का गुण है विजय प्रदान करना, और दम्भ विद्या को वंध्या या पुंश्ल बना देता है। शास्त्रों का कथन है कि सत्य बोलो, प्रिय बोलो, किन्तु सत्य होने पर भी अप्रिय वाक्य मत बोलो।

लोक-व्यवहार में भी जो लोग झुककर चलते हैं, उन पर सबकी कृपा होती है, पर उदण्ड, अहंकारी, दम्भी और कटु वचन बोलनेवाले व्यक्ति की कोई कैफियत तलब करने नहीं जाता। पवित्र धर्मग्रन्थ कुरान की सूक्ति है – तुम मेरी धरती पर अकड़ कर मत चलो। इसलिये सन्त लोग अकड़ कर चलने की बजाय झुककर चलने की शिक्षा देते हैं –

नर की अरु नल नीर की गति एकै कर जोय।
जेतौ नीचै ह्वै चलै तेतौ उंचो होय।।

कदाचित् यही कारण है कि सूफी सन्त दूसरों की छोड़ स्वयं को ही अज्ञानी, पापी, अल्पज्ञ, दुष्ट सब कुछ कह डालते हैं। चाणक्य नीति है कि दुर्जन और साँप इन दोनों में साँप अच्छा है, क्योंकि साँप काल आने पर डसता है, किन्तु दुर्जन तो पग-पग पर कष्टदायक होता है।

अस्तु, हम कह सकते हैं कि सहिष्णुता मनुष्य का एक ऐसा दैविक गुण है, जो शत्रु को भी मित्र और क्रोधी को भी सहिष्णु बना देता है। यह व्यक्ति की महानता, बड़प्पन, सहिष्णुता और विवेकशीलता का परिचायक है। जिस समाज और राज्य में इसका अभाव हो जाता है, वह अधोगति का कारण बनता है, क्योंकि हिंसा से भरा हुआ राज्य जल्द ही अपना अस्तित्व और अपनी पहचान खो बैठता है।

(योजना, अप्रैल-२००६, पृ. ४८,५२ से साभार)
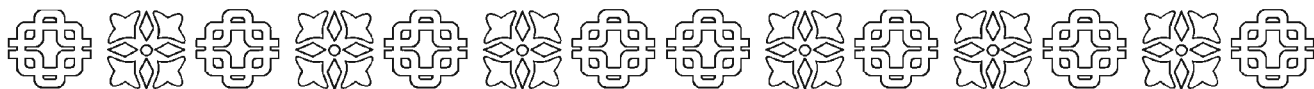
पुरखों की थाती

कृतस्य करणं नास्ति मृतस्य मरणं तथा।
गतस्य शोचना नास्ति ह्येतद्वेदविदां मतम्।।

– ज्ञानियों का मत है कि जैसे सम्पन्न हो चुके कार्य में कुछ करना बाकी नहीं रहता, मरे हुए का फिर मरना नहीं होता, वैसे ही बीते हुए के लिये शोक करना भी उचित नहीं है।

कामक्रोधादिपुत्राद्यान् हिंसातृष्णादि कन्यकाः।
मोहयन्त्यनिशं देवमात्मानं स्वैर्गुणैर्विभूम्।।

– अविद्या माया, अपने काम-क्रोध आदि पुत्रों, हिंसा-तृष्णा आदि पुत्रियों तथा अपने (तीन) गुणों के द्वारा दिव्य सर्वव्यापी आत्मा को मोहित किये रहती है।

गर्जति शरदि न वर्षति वर्षासु विस्वनो मेघः।
नीचो वदति न कुरुते न वदति सुजनः करोत्येव।।

– जैसे शरद् ऋतु के बादल केवल गर्जन-तर्जन ही करते रहते हैं, पर वर्षा ऋतु के बादल निःशब्द बरसते रहते हैं, वैसे ही नीच लोग केवल बड़ी-बड़ी बातें हाँकते हैं, उन्हें पूरा नहीं करते, परन्तु सज्जन लोग बिना कुछ कहे अपना कर्तव्य किये जाते हैं।

आखिर विजय तुम्हारी होगी

देवेन्द्र कुमार मिश्रा

तुम्हें कौन बाँध सकता है
तुम्हें कौन रोक सकता है
उफनती नदी को बाँध कहाँ रोक पाता है
तुम तूफान हो –
रास्ते के वृक्ष गिर जायेंगे
तुम अपनी कैद तो छोड़ो
तुमने स्वयं ही बाँधा है अपने को जंजीरों में
जकड़ रखा है अपने को
विकारों के मोटे-मोटे रस्सों में
तुम कसमसाते हो, कराहते हो
याचना, प्रार्थना करते हो
पर सब व्यर्थ –
किसी के करने से कुछ नहीं होगा
तुम्हें ही काटने होंगे ये बन्धन
तुमने ही तो बुने हैं ये जाल
तुम्हीं जोर लगाओ, कोशिश करो
निश्चय ही सफलता मिलेगी।

रामकृष्ण मिशन आश्रम, कटिहार अब गाँवों में भी

रामकृष्ण मिशन आश्रम, कटिहार ने ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत सन् २००५-०६ में कटिहार तथा आस-पास के गरीबों के लिये निम्नलिखित कार्य किये –

१. स्वावलम्बन-योजना –

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत आश्रम ने ७० लोगों की निम्नलिखित प्रकार से सहायता की –

(क) २६ लोगों को एक-एक रिक्शा दिया गया।

(ख) १२ लोगों को एक-एक वैन-रिक्शा दिया गया ।

(ग) २३ महिलाओं को एक-एक सिलाई मशीन दी गई।

(घ) ९ लोगों को उनके व्यापार के विकास के लिये सहायता दी गई।

२. विकलांगों को सहायता –

सन् २००५-०६ के दौरान ५ विकलांगों को एक-एक तिपहिया साइकिल दी गई।

३. किसानों की सहायता –

उपरोक्त वर्ष में ही छह गाँवों के ग्रामवासियों को उनकी खेती के विकास के लिये सिंचाई के उपकरण के साथ छह पम्प सेट दिये गये।

४. पेय जल और सफाई –

वर्ष २००५-०६ के दौरान विभिन्न गाँवों – मनिया, बुद्धनगर, बैगना, डेहरिया, जफरगंज, पिपरा, बलुआ में लोगों को पानी पीने की सुविधा हेतु ९७ हैंड पम्प लगाये गये। आश्रम ने उपरोक्त गाँवों में ३५ पक्के शौचालय भी बनवाये।

५. निःशुल्क शिक्षण केन्द्र –

आश्रम द्वारा ग्रामीण बच्चों की शैक्षिक योग्यता बढ़ाने के लिये ९ विभिन्न गाँवों में निःशुल्क शिक्षण केन्द्र चलाये जा रहे हैं, जिसमें २ कटिहार में और ७ अन्य गाँवों – बुद्धनगर, डी. भट्ठा, बरिया टिकर, अम्बेडकर कॉलोनी, मनिया, विवेकानन्द कॉलोनी और बैगना में हैं। इन सभी केन्द्रों में अध्ययनरत छात्रों को निःशुल्क पुस्तकें, कॉपी, पेन, पेंसिल आदि दिये जाते हैं तथा छात्रों हेतु शैक्षिक उपकरण – मानचित्र, ग्लोब, ब्लैक बोर्ड आदि भी आश्रम के द्वारा प्रदान किया जाता है। इस योजना से ३८६ लड़के और २६१ लड़कियाँ लाभान्वित हुये।

६. छात्राओं की सहायता –

आश्रम द्वारा दो छात्राओं की पढ़ाई का वर्ष भर का पूरा खर्च दिया गया तथा ३९ छात्राओं को उनके स्कूल बैग और पुस्तकों के साथ एक-एक साइकिल दिया गया, जिससे वे अपने घर से स्कूल आ-जा सकें।

७. सचल चिकित्सा केन्द्र -

(क) आश्रम एक चल-चिकित्सालय भी चलाता है, जो सप्ताह में एक बार निकटस्थ सात गाँवों में जाकर वहाँ के लोगों को निःशुल्क दवा और चिकित्सा की सुविधा प्रदान करता है। इस वर्ष ६१ शिविर लगाये गये, जिसमें ७७४९ रोगियों का इलाज किया गया। इसमें ४ चिकित्सकों, २ कम्पाउंडरों, स्वयंसेवकों और संन्यासियों ने सहायता की।

(ख) उपरोक्त वर्ष में आश्रम द्वारा २ गाँवों में ९ नेत्र-चिकित्सा शिविर का आयोजन किया गया और नेत्र-विशेषज्ञों द्वारा ७०२ रोगियों की नेत्र-जाँच की गयी तथा निःशुल्क दवायें दी गयीं। ६६१ रोगियों को निःशुल्क चश्मे दिये गये।

८. धर्मार्थ औषधालय

आश्रम के धर्मार्थ अँग्रेजी दवाखाने से क्षेत्र के लोगों को बड़ी सहायता मिलती है। इसमें एक चिकित्सक, दो कम्पाउंडर और विभिन्न प्रकार के चिकित्सा-उपकरण हैं। रोगियों को दवायें निःशुल्क दी जाती हैं। इस वर्ष १८,१३२ रोगियों का इलाज किया गया, जिनमें ३७१३ पुरुष, ५३१५ महिलाएँ और ९१०४ बच्चे थे।

९. राहत और कल्याण-कार्य –

आश्रम ने स्थानीय गरीब लोगों में ६०० चद्दर, ५२५ सेट बच्चों के कपड़े और २०० कम्बल वितरित किये।

इस प्रकार रामकृष्ण मिशन, आश्रम, कटिहार अपनी गतिविधियों के साथ-साथ, अपना कमर कसकर अब गाँवों में भी जन-सेवा के क्षेत्र में अग्रसर हो रहा है।

❑❑❑